साम्य-सूत्र

विनोबा

साम्य-सूत्र

(संशोधित परिवर्धित संस्करण)

विनोबा

संस्करण : जून, 2014

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी 221 001

फोन : 0542-2430385

ई-मेल: sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

विनोबाजी ने ‘गीता-प्रवचन' को 108 विभागों में विभाजित किया और उनपर सूत्र लिखे। बाद में 'गीता-प्रवचन' के 432 परिच्छेदों पर भी सूत्र लिखे। 'साम्यसूत्र-वृत्ति' नाम से ये सूत्र ‘गीता-प्रवचन' में परिशिष्ट के रूप में जोड़े जा रहे हैं।

‘गीता-प्रवचन’ के विभागों को साम्य-सूत्रों द्वारा सूत्ररूप दिया गया। लेकिन, जैसा खुद विनोबाजी ने बताया है, उनका अर्थ उतना ही सीमित नहीं है। बल्कि, विनोबाजी का अभिनव साम्ययोग-दर्शन उनके द्वारा परिभाषित तथा स्पष्ट हुआ है।

1957 में 8 दिन विनोबाजी ने इनमें से 8 सूत्रों पर व्याख्यान दिये, जो पुस्तकरूप में प्रकाशित हुए। इसके छह संस्करण भी निकले। इस सातवें संस्करण में 'विनोबा-साहित्य' खंड 3 के आधार से साम्यसूत्र-विषयक अन्यत्र प्रकट चिन्तन से कुछ सामग्री का समावेश किया गया है (पृष्ठ 75-76, 83-108)। ‘साम्यसूत्र-वृत्ति' भी संदर्भ के लिए जोड़ी गयी है। इस तरह विनोबाजी का साम्यसूत्र-विषयक चिन्तन समग्ररूपेण पुस्तकरूप में पहली बार प्रकाशित हो रहा है। आशा है, पाठक इसका स्वागत करेंगे।

- प्रकाशक

साम्य-सूत्र

दो शब्द

आश्रम-पाठ में 'साम्यसूत्राणि' नामक एक नयी कृति जोड़ दी गयी है। गीता को मैंने 'साम्ययोग' नाम दिया है। गीता का साम्ययोगपरक विवरण 'गीता-प्रवचन' में लौकिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। बहुत दिनों से सोचता था कि उसे संस्कृत-सूत्रों के रूप में गूँथा जा सके, तो गूँथें। उड़ीसा में, कोरापुट जिले के घने जंगल में भूदान-यात्रा महीनों तक चली। उस समय इन सूत्रों को गूँथने (रचने) की प्रवृत्ति हुई। गीता-प्रवचन में ऐसे ही सूत्र मराठी में दिये गये हैं। किन्तु ये संस्कृत-सूत्र अधिक व्यापक अर्थ का समावेश करनेवाले बनाये हैं। मुझे ये चिन्तन में उपयोगी पड़ते हैं। बीच-बीच में चित्त में एक सरीखा उनका मंथन चलता रहता है। वेद, उपनिषद् आदि के सूचक शब्दों से वे उपस्कृत हैं। साम्ययोग का दर्शन कोरापुट के ग्रमदान में प्रकट हुआ। उसकी प्रेरणा इनमें अंकित हो उठी है। इनके चिन्तन से सेवकों और साधकों के हृदय में साम्ययोग स्फुरित हो, यही अभिलाषा है।

- विनोबा

अनुक्रम

प्रास्ताविक

1. साम्य-सूत्र का विषय—परम साम्य
2. ज्ञानयोग की प्रक्रिया
3. भक्तियोग की प्रक्रिया
4. कर्मयोग की प्रक्रिया
5. गुण-विकास की प्रक्रिया: त्रैगुण्य-सिद्धान्त
6. गुण-विकास की प्रक्रिया: चित्तशमन की युक्ति
7. गुण-विकास की प्रक्रिया: प्रमाद और अहंकार का निरसन
8. गुण-विकास की प्रक्रिया: भक्ति से ही निस्तार

परिशिष्ट

1. देहभिन्नता की पहचान
2. क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्
3. अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात्
4. विहंगम दर्शन
5. साम्यसूत्र-वृत्ति

साम्य-सूत्र

प्रास्ताविक

सूत्र की परिभाषा

सूत्र वे हैं, जो सूचक होते हैं। **'सूचनात् सूत्रम्'**—जो सूचन करता है, वह सूत्र है। जो आपको सुझाता है, वह सूत्र है। आपको थोड़ा-सा सुझा दिया, तो फिर आप ज्यादा सोच सकते हैं, उस पर कुछ और प्रकाश डाल सकते हैं। ऐसे वचनों को **'सूत्र'** कहते हैं।

यह हमारी पुरानी प्रथा है कि चन्द सूत्रों में कोई चीज रख दी जाय, ताकि अध्ययन करनेवालों को गहरा खजाना उपलब्ध हो और सतत चिन्तन करने के लिए कोई चीज रह जाय, तो कण्ठस्थ करने में भी आसान हो।

'गीता-प्रवचन' के विषय ही 'साम्ययोग-सूत्र' में संस्कृत में रखे गये हैं, किन्तु उन सूत्रों की रचना ऐसी नहीं की गयी है कि गीता-प्रवचन में जो भाष्य हैं, उनमें ही उसका अर्थ सीमित रह जाय। बल्कि, वह रचना अत्यन्त योगपूर्वक की गयी है। योग-सूत्रों की तरह ही ये सूत्र हैं। इनकी कुल संख्या 108 है।

हम बचपन से गीता को जीवन-ग्रन्थ के तौर पर मानते आ रहे हैं। हमने अनेक भाषा के अनेक गन्थों का अध्ययन किया, लेकिन उन सबमें गीता हमारे हृदय में प्रधान रही। गीता हमारे लिए एक परिपूर्ण-सा ग्रन्थ हो गया है। उस ग्रन्थ के आधार पर, किन्तु चिन्तन के लिए बिलकुल स्वतंत्र, ऐसा यह 'साम्य-सूत्र' है। जैसे पक्षी अपने पंखों से चारों दिशाओं में उड़ान भरता है, वैसे ही हम उसके आधार पर चारों दिशाओं में घूम सकेंगे।

पक्षी की दो उपमाएँ

मैंने पक्षी की उपमा इसलिए दी कि कवियों के लिए वह एक विशेष उपमान रहा है। वर्ड्सवर्थ ने ज्ञानी पुरुष के वर्णन में एक कविता लिखी है। उसके सामने समाज-सेवा-परायण ज्ञानी है; जो भक्त हैं, वे सिर्फ बौद्धिक ज्ञानी ही नहीं हैं। बौद्धिक ज्ञान का जिनके जीवन में साक्षात्

दर्शन होता है, वे ही भक्त कहलाते हैं। वर्ड्सवर्थ ने चण्डूल (Skylark) पक्षी के लिए कहा है : A type of the wise that soars but never roams, true to the kindred point of Heaven and Home। वह एक ज्ञानी पुरुष की मूर्ति है। चण्डूल खूब भटकता है, परन्तु भटकते हुए भी वह स्वर्ग की ओर दृष्टि रखता है और अपने घोंसले की तरफ भी बराबर नजर रखता है। वह केवल स्वर्ग की ओर ही ध्यान रखता और घर की ओर ध्यान न रखता, तो वह भटकता है, ऐसा कहा जाता है। और यदि वह सिर्फ घर की ओर ही नजर रखता, स्वर्ग की ओर नजर न रखता, तो वह घर में ही रहता। परन्तु वह घोंसला और आसमान, दोनों ओर ध्यान रखता है। इसलिए उसका वह भटकना 'विहार' कहा जाता है। ऐसी क्या चीज है, जो उसे भटकने नहीं देती? वह चीज 'घर' है। उसमें आकर्षण भरा है। वहाँ बच्चे हैं।

नामदेव ने लिखा है : **'उडाली पक्षिणी गेली अन्तराळी, चित्त बाळाजवळीं ठेवूनियां'**। मादा पक्षी आसमान में उड़ रहा है, परन्तु उसका चित्त बालक के पास ही रखा हुआ है। वर्ड्सवर्थ के उपमेय को नामदेव ने बिलकुल उलट दिया है। वर्ड्सवर्थ के पक्षी के लिए स्वर्ग में परमेश्वर है और घोंसले में परिवार। एक ओर जनसमाज की सेवा का आकर्षण है, तो दूसरी ओर ईश्वर-दर्शन की तृष्णा। स्वर्ग ऊपर है, इसलिए ऊपर उठना है। घर नीचे है, इसलिए नीचे आना है। इस तरह दोनों की निष्ठा रखना बुद्धिमान् लोगों का लक्षण है।

नामदेव की उपमा अधिक प्रिय

परन्तु नामदेव ने उपमा को उलटा कर कहा कि जैसे स्वैर विहार में पक्षी अपने बालक की ओर चित्त रखता है, वैसे ही संसाररूपी आसमान में इधर-उधर भटकते रहने पर भी हमारा चित्त तो अपने मूलधाम में ही, जहाँ तुम बालकवत् सो रहे हो, लगा रहेगा। जहाँ वर्ड्सवर्थ का भगवान् आसमान में और समाज, संसार घोंसले में है, वहीं नामदेव का भगवान् घर में है। नामदेव की उपमा में पक्षी चारों ओर आसमान में उड़ तो रहा है, लेकिन चित्त एक ही जगह, भगवान् में ही है। इसके लिए उत्तम उपमा पतंग की है। पतंग के एक छोर पर लम्बी रस्सी बँधी रहती है। वहाँ से हाथ उसे पकड़े रहता है। वह एक केन्द्र में केन्द्रित रहकर चारों ओर विहार करने के लिए मुक्त है।

सिर्फ रस्सी की पकड़ हाथ में रहेगी, जो पतंग को केन्द्र में बाँधे रहेगी। स्थितप्रज्ञ पुरुष की जीवन-चर्या भी ऐसी ही होती है। उसका सारा ध्यान एक केन्द्र में केन्द्रित रहता है और फिर वह चारों ओर घूमता है। मुझे नामदेव की उपमा ज्यादा पसन्द है। ऋग्वेद में उपमा दी है :

'पृश्न्या: पतरं चितयन्तमक्षभि:।

पाथो न पायुं जनसी उभे अनु॥'

पतर यानी पक्षी या परिन्दा। मेघमाला में विहार करनेवाला पक्षी स्वर्ग और पृथ्वी—दोनों लोकों की तरफ ध्यान देता है। क्योंकि पृथ्वी में परिवार है और स्वर्ग में परमात्मा। उसकी वृत्ति पुल-जैसी रहती है। पुल दोनों तीरों से चिपका रहता है। कुछ ज्ञानी ऐसे होते हैं, जो एक ही तीर पर रहते हैं, बिलकुल अनासक्त, संसारास्पृष्ट। लेकिन पुल का एक पाँव एक ओर होना चाहिए और दूसरा पाँव दूसरी ओर।

साम्य-सूत्रों की रचना

मैं कहना यह चाहता था कि ऐसे सूत्र लिखने का, अपना जीवन-आदर्श सूत्रों में रखने का, विचार लम्बे समय से था। मैं ऐसे सूत्र लिखना चाहता था, जिनसे विहार तो चारों ओर कर सकें, फिर भी केन्द्र में ही रहें। उनमें कुछ व्यवस्था भी हो, फिर भी वह ऐसी हो कि हम स्वैर विहार भी कर सकें। ऐसा एकान्त मुझे कोरापुट में मिल गया। वहाँ के जंगलों में हमें बहुत ही एकान्त और रमणीय सृष्टि का स्पर्श मिलता रहा। इन सूत्रों का परिष्कार करने में दो-एक महीने लग गये होंगे।

इन सूत्रों में जो शब्द हैं, वे अनेक शास्त्रों से इकट्ठे किये गये हैं। कुछ वेदों से, कुछ भगवद्गीता से, कुछ ब्रह्मसूत्रों से, कुछ विभिन्न संत-ग्रन्थों से, कुछ मनुस्मृति से, तो कुछ भागवत से। इस तरह जगह-जगह से चुन-चुन कर शब्द लिये गये हैं। उनमें से शायद ही ऐसा कोई शब्द होगा, जो किसी ग्रन्थ में से न चुना हो। हाँ, **'आत्मशक्तेर्भानात्', 'ततः शासनमुक्तिः',** ऐसे सूत्रों में हमारे विचार के कुछ नये शब्द भी हैं। बाकी कुल-के-कुल शब्द शास्त्रों में से चुने हैं। इसलिए इन सूत्रों पर आप जितनी गहराई से सोचेंगे, उतना ही गहरा अर्थ प्राप्त कर सकेंगे।

१. साम्य-सूत्र का विषय-परम साम्य

अभिधेयं परम साम्यम् (सूत्र 1)

हमारा प्रथम सूत्र है **'अभिधेयं परम साम्यम्।'** हमारा अभिधेय क्या है? आज की भाषा में कहें, तो हमारे चिन्तन का विषय क्या है? हमने कहा कि इस काम में हमें चिन्तन-सर्वस्व लगाना है। उसे हम ध्येय या लक्ष्य भी कह सकते हैं। ध्येय यानी ध्यान का विषय। 'ध्येय' दूर का विषय होता है, तो 'लक्ष्य' नजदीक है, प्रत्यक्ष या सामने है। अभिधेय इन दोनों से भिन्न है। वह कुल जीवन के चिन्तन का विषय है। सिर्फ ध्यान और दृष्टि का नहीं, बल्कि कृति, उक्ति, सबका जो विषय है, वही अभिधेय है। अर्थात् जिस दिशा में जीवन के समूचे चिन्तन को ले जाना है, इन्द्रियों को मोड़ना है, लक्ष्य करना है, उसी को **'परम साम्य'** कहते हैं।

साम्ययोग-जीवन का सारसर्वस्व

हमने गीता को 'साम्ययोग' नाम दे रखा है। आज तक उसे विविध नाम दिये गये हैं। लोकमान्य तिलक ने उसे 'कर्मयोग' नाम दिया, तो किसी ने 'ज्ञानयोग' या 'भक्तियोग' कह दिया। गांधीजी ने उसे 'अनासक्तियोग' कहा है। गीता एक ही ग्रन्थ है। लेकिन अपनी-अपनी रुचि और दृष्टि के अनुसार उसे अलग-अलग नाम दिये हैं। उसके अध्ययन में तरह-तरह के दर्शन और अनुभव आये, तो नाम भी विविध दिये गये। हमने उन नामों को इतना पसन्द नहीं किया, जितना कि 'साम्ययोग' नाम को। सम्भव है, यह नाम पसन्द करने में जमाने का, या जो काम उठा लिया है उसका, कुछ असर हो; पर बहुत अधिक सम्भव तो यही है कि जीवन का रहस्य साम्ययोग है। और चीजों में इतना रहस्य नहीं है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, अनासक्ति आदि व्यावर्तक चीजें हैं। ये बचानेवाली चीजें हैं। उनकी भी जरूरत है। वे बचानेवाली जरूर हैं, पर शायद विषय को बतानेवाली नहीं। इसीलिए हमने इसे 'साम्ययोग' ही नाम दिया। हमारी दृष्टि 'साम्ययोग' नाम पर ही स्थिर हुई, क्योंकि जीवन का वही सार-सर्वस्व है।

परम साम्य की व्याख्या

'परम साम्य' में 'परम' शब्द महत्त्व का है। जहाँ उसे परम साम्य का रूप देते हैं, वहाँ वह केवल आर्थिक या सामाजिक वस्तु नहीं रहती। आर्थिक और सामाजिक साम्य भी चाहिए। परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक साम्य है—मन का सन्तुलन या मानसिक साम्य। लेकिन इन तीनों से भी परे कोई एक चीज है, जो 'परम साम्य' कहलाती है। एक है—आर्थिक साम्य, जो हरएक व्यवहार में मददगार होता है। दूसरा है—सामाजिक साम्य, जिसके आधार पर समाज में व्यवस्था रहती है। तीसरा है—मानसिक साम्य, जिससे मनुष्य के मन का नियंत्रण होता है, जो कि बहुत जरूरी है। नहीं तो, भूला-भटका मनुष्य सुख की चाह में इधर-उधर घूमता रहेगा, लेकिन पायेगा दुःख ही। इसके लिए मनोयोग बहुत जरूरी है।

शुकदेव ने भागवत में कहा है :

'सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः '

यानी सबसे श्रेष्ठ यदि कोई योग है, तो वह मन का समाधान है। जितने योग हैं, सबके मूल में कहीं-न-कहीं मनोनिग्रह पड़ा है, चाहे वह ज्ञानयोग हो, कर्मयोग हो या भक्तियोग ही क्यों न हो। मन का कुछ युक्तिपूर्वक ही सही, चाहे मिश्री खिलाकर भी, निरोध करना ही है। इन सबमें परम योग क्या है? तो शुकदेव कहते हैं : 'परोयोग है चित्त का समाधान, चित्त का समतुलन, चित्त का साम्य'। आर्थिक, सामाजिक साम्य से मानसिक साम्य निःसंशय श्रेष्ठ है। परन्तु इन तीनों साम्यों से परे एक साम्य है, जिसके पेट में ये सारे आ जाते हैं। वह है, आत्यन्तिक परम साम्य। वह वैज्ञानिक क्षेत्र से भी ऊँचा चला जाता है। आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र तो साधारण स्थूल-क्षेत्र हैं। मानसिक क्षेत्र ऊँचा है, जो जीवन का नियंत्रण करता है। परन्तु परम साम्य वह चीज है, जो वैज्ञानिक और नैतिक क्षेत्र से भी ऊँचे जाती है। यानी वह आध्यात्मिक भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। सारांश, परम साम्य यानी 'ब्रह्म'। इसके सिवा उसका दूसरा अर्थ ही नहीं हो सकता। इसलिए हमारा लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति हुआ। इसके सिवा दूसरा लक्ष्य हो ही नहीं सकता।

परम साम्य क्यों?

सवाल यह उठता है कि यदि हमारा लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है, तो कह देते— **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** और ये सूत्र 'ब्रह्मसूत्र' ही हो जाते। फिर इसे 'साम्यसूत्र' नाम क्यों दिया? हमने इसे 'ब्रह्मसूत्र' नाम इसलिए नहीं दिया कि हम एक पद्धति बताना चाहते हैं। हमने 'परम साम्य' बताया है। यानी छोटे-छोटे साम्यों का उपयोग करते-करते परम साम्य तक कैसे पहुँचे, इसकी पद्धति बतायी। गीता ने कहा है : **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'** जो लोग साम्य पकड़ लें और उसका विकास करते-करते जहाँ निर्दोष साम्य तक पहुँच जायें, वहीं वे ब्रह्म में स्थिर हो जायेंगे।

मान लीजिये, कोई योगी है और हीरा, पत्थर, मिट्टी इत्यादि सब समान मानता है। **'समलोष्टाश्मकाञ्चनः।'** वैसे तो मिट्टी की कीमत ज्यादा है, यद्यपि अर्थशास्त्र में सुवर्ण की कीमत अधिक है। पर यह समान मानता है। परन्तु इतने से परम साम्य नहीं बनता। हाँ, चित्त में कांचन-वैराग्य आ जाय तो वह परम साम्य की प्राप्ति का एक साधन हो जाता है। कोई शीतोष्ण सहन करता है, तो वह भी एक साधन है। शरीर को काबू में रखने का मतलब यह नहीं कि शरीर से वैर करे या वह विज्ञान के जिन नियमों पर खड़ा है, उन्हीं का उल्लंघन करे। शंकराचार्य ने लिख रखा है :

'क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।'

क्षुधा को व्याधि समझो और उसकी चिकित्सा करो। हर रोज भिक्षा में जो मिले, औषध समझ कर उसका सेवन करो। मीठी चीजें मत माँगो। भिक्षा में जो कुछ मिले, उसी में सन्तोष मान लो। क्षुधारूपी व्याधि को जो औषध जितनी मात्रा में देनी है, उतनी मात्रा में ही दी जाय, कम-ज्यादा मात्रा में नहीं। मीठी औषध है इसलिए ज्यादा, कड़ुआ है इसलिए कम—यह नहीं चलेगा। यह उपमा शंकराचार्य की है। इसलिए शीतोष्णादि सहन करने का अर्थ यह नहीं कि शारीरिक नियमों की परवाह न करे, बल्कि विज्ञान के नियमों का ठीक विचार करके ही शरीर को कसे। केरल की

बारिश की मार में हमारी यात्रा चली, फ्लू की हवा ने हमारा गला पकड़ लिया, तो वह बाबा का योग गिर गया, ऐसा कहने का मौका न रहना चाहिए। 150" बारिश में हमें अनुकूल होना चाहिए, बारिश हमारे अनुकूल नहीं होगी। ध्यान रखें कि बारिश होने पर किस तरह बर्ताव किया जाय। योगपूर्वक ही व्यवहार होना चाहिए। तितिक्षा का अर्थ यह नहीं कि हम विज्ञान के नियमों का ही विरोध करें।

अपर साम्यों से परम साम्य का दर्शन

ऐसे अनेकविध साम्मों में श्रेष्ठ साम्य मानसिक साम्य है, परन्तु इसके भी परे ब्रह्म है। **मनसः समाधि**—मानसिक समाधान या मानसिक साम्य प्राप्त करने की वस्तु है, परन्तु परम साम्य तो दुनिया में है ही। उसे प्राप्त क्या करना है? वह तो है ही। इसलिए उसका आविष्कार ही करना है, उसे खोजना है। वह कोई बनाने की चीज नहीं। हमें आर्थिक, सामाजिक या मानसिक साम्य स्थापित करना है, परन्तु परम साम्य स्थापित करने की बात ही नहीं। हमें भिन्न-भिन्न अपर साम्यों की स्थापना करनी है। अपर साम्य प्राप्तव्य है, स्थापित करने योग्य है। उन्हें स्थापित करने से उस परम साम्य का दर्शन होगा, जो पहले से ही मौजूद है। वह हमारे अंधत्व के कारण नहीं दीखता था। हम इतनी सादी साधन-क्रिया दिखाना चाहते थे, इसलिए **'अभिधेयं परम ब्रह्म'** लिख सकते थे। अगर वह लिखते, तो शांकर भाष्य के साथ पूरी तरह मिल जाते और उसे लिखने की भी कोई जरूरत न होती। परन्तु हमने कह दिया : **'अभिधेयं परम साम्यम्'**। जब नये सूत्र लिखने बैठे, तो पुराने सूत्र लेकर नवयुग के अनुकूल चीज होनी चाहिए। इस तरह स्पष्ट है कि अपर साम्यों की प्राप्ति करके परम साम्य का दर्शन होगा, तो **'अभिधेयं परम साम्य'** सम्पन्न हो जायेगा।

पांडवपुर (कर्नाटक)

30-9-'57

२. ज्ञानयोग की प्रक्रिया

महावाक्यम् अनुचिन्तयेत् (सूत्र 70)

ततः शासनमुक्तिः (सूत्र 71)

आत्मशक्तेर् भानात् (सूत्र 72)

'महावाक्य' वे कहलाते हैं, जो योगियों और महर्षियों के अनुभव के सार-रूप छोटे-छोटे अनुभव के आदेश हैं। वे अर्थ में महान् होते हैं, इसलिए 'महावाक्य' कहलाते हैं। दुनिया के जो सबसे छोटे वाक्य हैं, उनमें महावाक्यों की गिनती है, जैसे **'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि। महावाक्यों का अनुचिंतन अपने देश की एक विशेष साधना है, जो दूसरे देशों, दूसरे धर्मों या सम्प्रदायों में कम पायी जाती है।

'अनुचिन्तयेत्' यानी 'सततं चिन्तयेत्', 'निरन्तर चिन्तयेत्', 'प्रतिक्षणं चिन्तयेत्', 'आमरणं चिन्तयेत्', 'आजीवनं चिन्तयेत्'। अपने हरएक काम में महावाक्य का चिन्तन करें। विभिन्न आचार्यों ने उसकी प्रक्रियाएँ बहुत विस्तार के साथ समझायी हैं। उनमें बहुत विविधता है। 'मैं वह हूँ'—**'सः अहं अस्मि'**। तो 'मैं वह हूँ', इस वाक्य में 'मैं', 'वह' और 'हूँ' कहने से क्या अर्थ निकलता है? इसी तरह 'तत् त्वम् असि', इसमें 'तत्', 'त्वम्' और 'असि' कहने से क्या तात्पर्य निकलता है? ऐसी बहुत बारीक चर्चा की गयी है। उन्हीं चर्चाओं के अनुसार सम्प्रदाय बने हैं। रामानुज- सम्प्रदाय महावाक्य का चिन्तन एक प्रकार से करता है, तो शांकर-सम्प्रदाय दूसरे प्रकार से। मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, विष्णुस्वामी और भी भिन्न-भिन्न प्रकारों से करते हैं। वेदान्त के अन्य विचारक और ही किसी प्रकार से करते हैं। गीता के तेरहवें अध्याय के आधार पर हमने 'गीता-प्रवचन' में लिखा है कि 'हम शरीर से भिन्न हैं', इतनी पहचान आसानी से होती है; क्योंकि शरीर में फर्क होते हैं, कई प्रकार की बीमारियाँ होती हैं, उनके लिए हम इलाज करते हैं। इसलिए शरीर के फर्क, दोष, बीमारियों आदि को पहचानने और उनके लिए इलाज ढूँढ़नेवाले हम इस शरीर से भिन्न हैं, यह पहचानना मुश्किल नहीं! लेकिन इतने से महावाक्य का अनुचिन्तन नहीं

होता। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। यहाँ मैं उसका एक अर्थ रख रहा हूँ, पर उसके लिए मेरा कोई आग्रह नहीं।

महावाक्य-चिन्तन

'तत् त्वम् असि'—'तू वह है।' इस महावाक्य में 'वह' यानी विशाल विश्वरूप—परिपूर्ण शक्ति जिसमें भरी हुई है। 'त्' यानी जो अपने को महसूस कर रहा है। देह के अन्दर विराजमान, सीमित, मर्यादित, अल्प-शक्तिवाला, जैसा तू अपने को मान रहा है, अनुभव कर रहा है, वैसा नहीं है; बल्कि तू 'वह' है ! बहुत ही ऊँची उड़ान, असम्भव-सा चिन्तन और अपने नित्य के अनुभव के विरुद्ध सोचने का आदेश यह है ! तू कहता है कि 'मैं दुर्बल हूँ', तो वह कहता है, कि 'तू दुर्बल नहीं, बलवान् है।' तू कहता है, 'मैं बीमार हूँ', तो वह कहता है, 'नहीं-नहीं, तू स्वस्थ है।' तू कहता है, 'मैं बुद्धिहीन हूँ', तो वह कहता है, 'नहीं, तू बुद्धि से परे है।' यह बहुत बड़ी बात हो जाती है, जिसका चिन्तन करना आसान नहीं।

'मैं देह से अलग हूँ', यह समझना तो आसान है; परन्तु 'मैं वह हूँ', यह समझना आसान नहीं ! उसके लिए दूसरी साधना करके अपनी शुद्धि करनी होती है। बीच में कई रुकावटें आती हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की रुकावटें आती हैं। परिस्थिति की भी रुकावटें आती हैं। परन्तु हम उन्हें

अधिक महत्त्व न दें, उन्हें छोड़ दें; क्योंकि जो अपने निज स्वरूप का चिन्तन करने बैठा हो—'मैं देह से अलग हूँ', इसका चिन्तन करने बैठा हो, वह परिस्थिति की परवाह नहीं करेगा। यदि वह भी परिस्थिति के कारण आनेवाली बाह्य उपाधियों के फेर में आयेगा, जैसे कि प्रायः मनुष्य आता ही है, तो वह चिन्तन में अधिक प्रगति न कर सकेगा। इसलिए वह बाह्य उपाधियों से दबता नहीं, यही मानकर हम आगे बढ़ें। फिर भी, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के कारण जो रुकावटें पैदा होती हैं, उनमें उसे मुश्किल मालूम तो होती ही है।

मान्यताओं की मर्यादा और अर्थ

'कन्वेन्शन्स' (Conventions), 'नोशन्स' (Notions) और 'आइडियाज' (Ideas) यानीं रुढ़ियों, मान्यताओं और कल्पनाओं की पकड़ मन पर रहती है। फिर कर्तव्य-भावना (Sense of duty) भी है। जब मैं आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करने बैठता हूँ, तो कुल की कुल कर्तव्य-भावना गलत मालूम पड़ती है। कुछ सही और कुछ गलत, ऐसा नहीं मालूम होता। यह कर्तव्य-भावना मान्यता पर यानी कुछ मानी हुई चीजों पर ही निर्भर रहती है। वे मानी हुई चीजें मान लेने से सही मालूम होती हैं और न मान लेने से गलत !

लक्ष्मण यदि मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो वह राम के साथ वन में न जाता! राम ने उसे कहा भी कि 'तू दशरथ का पुत्र है, दशरथ की सेवा में यहीं रह जा, तो तेरे लिए भी अच्छा है।' यदि राम के साथ न जाकर 'मैं पिता का पुत्र हूँ, बड़ा भाई राम वन में जा रहा है, तो यहाँ रहकर भरत को मदद देना भी मेरा कर्तव्य है। पिता को भी वह अच्छा लगेगा', यह सोचकर लक्ष्मण रह जाता, तो वाल्मीकि इसकी भी प्रशंसा करता, क्योंकि वह तटस्थ पुरुष था। जो कोई जिस किसी भी कर्तव्य-भावना से जो भी काम कर ले, वह प्रशंसापात्र है। एक के ऊपर एक स्तर होता ही है। जो मनुष्य जिस स्तर पर है उस स्तर पर रहकर कर्तव्य से प्रेरित होकर वह आचरण करता है, तो वह अच्छा ही है। यदि लक्ष्मण मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो उसका वह मानना गलत नहीं था। परन्तु उसने माना कि 'मैं राम का भाई हूँ।' वैसे दशरथ का पुत्र और राम का भाई, ये दो अलग नहीं, एक ही हैं, उनमें विरोध नहीं। फिर भी जहाँ दो पक्ष हो जाते हैं, राम-पक्ष और दशरथ-पक्ष, वहाँ फैसला करने की बात आती है। वहाँ 'हम दोनों' कहने से कोई नतीजा न निकलेगा। दो में से एक हूँ, यही कहने से फैसला हो जाता है। लक्ष्मण ने फैसला किया कि 'मैं राम का भाई हूँ।' बस, मामला खतम हो गया! यह मानने की बात थी। यदि वह मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो वह भी मानने की बात थी। इसी तरह सारी कर्तव्य-भावना मानने पर निर्भर है!

चिन्तन की प्रक्रिया

मान्यता पूर्णतया सही नहीं होती है। किसी की निजी मान्यता के हिसाब से एक मान्यता अधिक सही होती है, एक कम सही होती है या बिलकुल गलत भी हो सकती है। लेकिन मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कर्तव्य-भावना का बोझ सिर पर न रहे, कुल की कुल हजामत हो जाय, एक भी बाल न बचा रहे! 'तुझे कर्तव्य है नहीं, तू कर्तव्यातीत है', इस तरह अपने स्वरूप को पहचानने के विषय में भावना की वे सारी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फिर बुद्धि की बाधाएँ भी आती हैं। 'इन सबसे मैं परे हूँ', यह समझना कठिन है। भावना से हम परे हैं, ऐसा मानें, तो जीवन शुष्क और निस्सार हो जायेगा, ऐसा लगता है और बुद्धि से भी अलग मानें, तो फिर कहाँ पहुँचें? इस तरह इसे पहचानने में ये सारे विघ्न आते हैं। इसलिए धीरे-धीरे अनुभव, धैर्य और तपस्या से एक-एक परदा दूर करना पड़ेगा, चिन्तन-मनन करना होगा। उसके लिए जितने साधन हैं, उन सबकी मदद लेनी पड़ेगी। साथ ही यह चिन्तन भी जारी रहना चाहिए कि 'मैं वह हूँ।' फिर उसका अनुभव आयेगा।

ऋषि कहता है कि **'श्रद्धत्स्व सोम्य'**—तू श्रद्धा रख। मनुष्य श्रद्धा रखता है, तो उसमें ताकत आ जाती है। धीरे-धीरे यह अनुभव आता है। महावाक्य के अनुचिन्तन की यह एक विशिष्ट ही प्रक्रिया है। इससे मनुष्य देह, मन, इन्द्रियाँ, वासना, भावना, बुद्धि आदि सबसे परे हो जाता है और अपनी मूल स्थिति में आता है, परम साम्य में आकर पहुँच जाता है।

महावाक्य-चिन्तन की प्रक्रिया हमारे देश की विशेष प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नाम-स्मरण प्रक्रिया के करीब है। जैसे भक्ति-मार्ग में नाम-स्मरण की प्रक्रिया है, वैसे ही वेदान्त में महावाक्य-चिन्तन की है। नाम-स्मरण की प्रक्रिया आसान है। बहुतों को मदद पहुँचाती है और सान्त्वना देती है। वाक्य-विचार के चिन्तन की प्रक्रिया अन्दर से भी मदद पहुँचानेवाली है। ऐसे दोनों प्रक्रियाएँ परस्पर निकट आती हैं।

महावाक्य-चिन्तन से शासन-मुक्ति

महावाक्य के अनुचिन्तन से कया होता है? तो, **ततः शासनमुक्तिः!** 'शासनमुक्ति' शब्द हमने बहुत चलाया है। पहले हमने 'शासनहीन' शब्द चलाया था, जो अविवेक से निकल पड़ा था; लेकिन बाद में छानबीन करके समुचित शब्द ध्यान में आया, जो इस सूत्र में दाखिल कर दिया। 'गीता-प्रवचन' में उसकी व्याख्या करते हुए एक छोटी-सी बात कही है : मनुष्य अपने को देह, मन और बुद्धि से अलग मान ले, तो 'तत्त्वमसि' का पूरा अर्थ सिद्ध हो सकता है। परन्तु देह से भी अलग मान ले, तो जालिम लोगों की कुछ न चलेगी। उनकी केवल इसलिए चलती है कि आपकी अपनी देह पर आसक्ति है। उससे लाभ उठाकर आपको वे भयभीत करते हैं। वे शस्त्रास्त्र खड़े करते हैं, दमन का आयोजन करते हैं, तो मनुष्य डरता है। किन्तु महावाक्य का अनुचिन्तन चलने पर तो ध्यान में आयेगा कि मैं छोटा रूप नहीं हूँ, इसलिए छोटे रूप को विनाश का जो भय दिखाते हैं, वह काम में न आयेगा। फिर किसी बाहरी जुल्मी मनुष्य की सत्ता आप पर नहीं चलेगी। परन्तु इस सूत्र का यह मुख्य अर्थ नहीं है। अर्थ यह है कि आप पर मन की सत्ता नहीं चलनी चाहिए।

आज मनुष्य के जीवन पर मन की सत्ता चलती है। लोग कहते हैं कि 'हम स्वतंत्र हैं, किसी का आदेश नहीं मानेंगे!' पर वे निरन्तर मन का आदेश मानकर ही चलते हैं! नाम तो है इच्छा-स्वातंत्र्य पर उसका अर्थ होता है, मानसिक गुलामी; अपने मन की गुलामी! मनुष्य को भ्रम होता है कि आजादी है, लेकिन होती है गुलामी; 'हम आजाद हैं, हम दूसरे की बात न मानेंगे', इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरा यानी हमारा जो बाह्य रूप फैला हुआ है, उससे हम अपने को अलग मानते हैं अर्थात् अपने को संकुचित बना लेते हैं! 'हम किसी की भी नहीं सुनते', ऐसा कहते हो, तो मन की भी मत सुनो! सम्भव है कि दूसरा तुम्हारे मन से ज्यादा अक्लवाला हो। तब दूसरे की न सुनने का मतलब है, दूसरे की अक्ल ज्यादा होने पर भी उसकी न सुनना और अपने मन की सुनना! मेरा हाथ कमजोर है। वह मेरे शरीर का हिस्सा है। पर मैं स्वावलम्बन का घमण्ड नहीं करता कि मैं अपने ही हाथ से काम लूँगा। 'मैं' यानी कौन? क्या यह हाथ 'मैं' हूँ? यह हाथ टूट जायेगा, तो दूसरे का हाथ भी मेरा ही है! इतना समझने की अक्ल मुझमें होनी चाहिए। इसलिए

मैं अपने कमजोर हाथ से काम नहीं लेता, दूसरे के मजबूत हाथ से लेता हूँ। यह अक्ल का काम है। अपने ही हाथ से काम लेने का आग्रह रखना मूर्खता है। वैसे ही, अपने कमजोर मन की बात मानने का आग्रह रखना और दूसरे की मजबूत अक्ल को न मानना मूर्खता है। इच्छा-स्वातंत्र्य तब होता है, जब इच्छा मिटती है। यह ऐसा अजीब इच्छा-स्वातंत्र्य है कि इच्छा मिटते ही स्वातंत्र्य हाथ लग जाता है!

मन की गुलामी

टॉल्स्टॉय की एक छोटी-सी किताब का मुझ पर बड़ा असर हुआ है, जिसका नाम है—Slavery of our times (हमारे जमाने की गुलामी)। उसमें उसने बताया है कि 'आजादी आती है, तो नाममात्र की आती है, परन्तु उसका अर्थ यह होता है कि पुरानी गुलामी गयी और आजादी के नाम से नये प्रकार की गुलामी आयी। लोग समझते हैं कि हम आजाद हो गये, बड़ा पराक्रम कर लिया, गुलामी से मुक्त हुए। परन्तु उसका अर्थ यह है कि पुरानी गुलामी से मुक्त हुए; पर नयी जो चीज आयी, वह आजादी नहीं गुलामी है!' बहुत दफा राष्ट्रों के बारे में यही चलता है। इटली और जापान में आजादी आयी और फौरन् उन्होंने गुलामी का आरम्भ किया!

हमारा भी हाल ऐसा ही होता है। हम कहते हैं कि हम आजाद हुए, 'अपनी इच्छा' के अनुसार काम करेंगे! लेकिन वह इच्छा आपकी है या और किसी की?' 'आपकी' इच्छा है ही नहीं, इच्छा तो 'मन की' होती है। आप तो इच्छा से परे हैं। इच्छा के मुताबिक काम करने का अर्थ है, मन के मुताबिक काम करना। मन तो मेरा नौकर है! मैं 'अपनी इच्छा से' चलूँगा यानी 'नौकर' के अनुसार चलूँगा। अगर मेरा पड़ोसी मुझसे ज्यादा अक्लवाला है, तो भी मैं उसकी इच्छा के अनुसार न चलूँगा, अपने नौकर की इच्छा से चलूँगा, क्योंकि वह मेरा नौकर है! अगर नौकर से अपनापन लगाना है, तो पड़ोसी से क्यों नहीं? परन्तु पड़ोसी के साथ अपनापन लगाने का हमने तय नहीं किया और नौकर के साथ लगाने का तय किया है! इस तरह हम अपने नौकर के गुलाम बनते हैं!

इस तरह आजादी के नाम से हम किसी-न-किसी गुलामी में पड़ते हैं। तो, उन सब गुलामियों से मुक्त होना पड़ेगा। महावाक्यों के अनुचिन्तन की यह खूबी है कि वह लोगों को बिलकुल आखिरी चोटी तक पहुँचा देता है। जहाँ यह कहा कि **'तत्त्वमसि'**—'तू वह है'—वहाँ वह पहले दर्जे पर जाता है; उससे सर्वथा शासन-मुक्ति होती है। अपने पर किसी का शासन नहीं चलता है। न कोई सामाजिक शासन चलता है, न मनुष्य आदि का शासन, न वासना का और न किसी जीव का। पूर्ण शासनमुक्ति होती है!

आत्म-शक्ति के भान का गौरव

शासममुक्ति क्या है, उसकी प्रक्रिया क्या है, वह इस तीसरे सूत्र में है। **'आत्मशक्तेर् भानात्'**—इसमें आत्मा की शक्ति का भान होता है। शक्ति कहाँ है? आत्मा में! और कहीं भी शक्ति का स्रोत नहीं है। सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् आत्मा ही है, पर मनुष्य को भास होता है कि शक्ति हाथ, पाँव, आँख और कान में है! अभी मेरा कान गड़बड़ कर रहा है। किसी दिन वह कहेगा कि अब मुझे रुखसत दो! मैंने अपने मन को समझा दिया है कि यह कान छुट्टी लेगा, तो तू बहुत मुक्ति पायेगा! फिर मूर्खों की बात तो सुननी ही नहीं पड़ेगी और खूब समय बच जायेगा! लेकिन अगर कल आँखें रुखसत लें, तो? मेरी आँख भी कान के जैसी ही भागने की कोशिश कर रही है! फिर मिल्टन कवि की-सी मेरी हालत होगी।

मिल्टन कविता तो बहुत अच्छी लिखता था, पर राजनीति में बहुत पड़ा था। लेकिन जब वह अंधा हो गया, तो उसकी राजनीति छूट गयी। उससे पहले वह हर रोज राजनीति पर लिखता था। पर आज कोई भी उसे नहीं पढ़ता। जो कोई उसे पढ़ता है, उसका 'पैराडाइज लॉस्ट' ग्रंथ ही पढ़ता है। जब उसकी आँखें चली गयीं, तो उसने महसूस किया कि मेरी बड़ी भारी शक्ति गयी, अब मैं न तो पढ़ सकता हूँ और न लिख सकता हूँ। दूसरों की मदद के बिना व्यवहार भी नहीं कर सकता। अपने साधन गये और अब दूसरों पर आधार रखना पड़ेगा। इस तरह दुगुना दबाव आया। एक गीत में वह लिखता है—

"मैंने अपने से पूछा, प्रकाश तो परमेश्वर ने छीन लिया है। फिर क्या वह प्रकाश में किये जानेवाले कर्तव्यों की मुझसे अपेक्षा करेगा? यह तो हो नहीं सकता। इतने में अन्दर से धैर्य की आवाज आयी...'They also serve who only stand and wait'। अन्दर शिकायत चल रही थी। उसे मिटाने के लिए धैर्य बोल रहा है कि "परमेश्वर मनुष्य से काम नहीं चाहता है, क्योंकि वह काम तो उसी का दिया हुआ है। अपना ही दिया हुआ दान कौन वापस चाहेगा? उसमें कौन बड़ी बात है? लाखों-करोड़ों उसकी सेवा में दौड़ रहे हैं, तब मेरे जैसा नहीं दौड़ता है, तो क्या होगा? सेवा के लिए आँख की जरूरत नहीं है। दे आल्सो सर्व हू ओनली स्टैण्ड एण्ड वेट। जो खड़े रहेंगे, स्थिर रहेंगे—'स्थान' से ' स्टैण्ड' आया है—राह देखेंगे, स्थिरता, धैर्य और शान्ति रखेंगे, वे भी सेवा करेंगे।"

मैंने इसमें जरा फर्क किया है—'दोज एलोन सर्व हू स्टैण्ड एण्ड वेट'—'आल्सो' (भी) के बदले 'एलोन' (ही)। उसने "वे भी' लिखा और मैंने 'वे ही' किया। वे ही वास्तव में सेवा करते हैं, जो शान्त रहते हैं, दौड़-धूप नहीं करते हैं। दौड़-धूप से सेवा नहीं होती है।

आत्मशक्ति के भान से ही शासन-मुक्ति

अस्तु, मैं कहना यह चाहता था कि मिल्टन के हाथों दुनिया की वास्तविक सेवा तो उसकी अंधत्व-प्राप्ति के बाद हुई। अंधा होने के बाद ही उसने 'पैराडाइज लॉस्ट' लिखा। वह बगीचे में बैठता था। उसका दिल और दिमाग कविता से भरा रहता था। वह अपनी लड़की से लिखवाता था। सारा काव्य उसने बोलकर लिखाया। मनुष्य को लगता है कि आँखों में बहुत शक्ति है, आँखें गयीं तो क्या होगा? पर यह तब तक होता है, जब तक आत्म-शक्ति का भान नहीं होता। तब तक हम मूल शक्ति को छोड़कर प्रतिबिम्ब को ही पकड़ रखते हैं। कान या आँखें काटकर यहाँ रखी जायें, तो उनमें क्या शक्ति रहेगी? कान और आँखों में जो शक्ति है, वह अन्दर की किसी चीज के साथ चिपके रहने से आयी है। वह चीज क्या है? इसका उत्तर केवल 'शरीर' नहीं है। वह चीज है, 'आत्म-शक्ति', जो आँख, कान आदि से प्रकट होती है।

सारांश, **'आत्मशक्तेर् भानात्'**—जब आत्म-शक्ति का भान होता है, तब शासन-मुक्ति होती है। महाकाव्य के अनुचिन्तन से आत्म-शक्ति का भान होता है। आत्म-शक्ति का भान होने पर उस पर किसी की सत्ता नहीं चलती, परिपूर्ण स्वतंत्रता आती है। उसी के साधन बतानेवाले ये तीन सूत्र हैं।

बेल्लाळ (कर्नाटक)

1-10-'57

३. भक्तियोग की प्रक्रिया

नाम्ना सादृगुण्यम् (सूत्र 99)

तद् हि पापापहारि (सूत्र 100)

साम्यसूत्रों का लक्ष्य स्वाभाविक ही परम साम्य की प्राप्ति है, जो प्रथम सूत्र में बताया गया है। उसके लिए मुख्य साधन तो यही होगा कि जीवन में साम्य की साधना की जाय, जो अनेक प्रकार से होती है। जैसे—आर्थिक, सामाजिक और मानसिक। इस तरह साध्य और साधन दोनों एकरूप हो जाते हैं। उसी तरह परम साम्य की प्राप्ति साध्य है और साम्ययोग की भूमिका का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अभ्यास साधन। यों इसमें परिपूर्ण परमार्थ मार्ग आ गया। साम्ययोग की साधना में कई प्रकार के अनुभवों की मदद होती है। उसकी एक प्रक्रिया है—ज्ञान-योग। ज्ञानयोग की प्रक्रिया बड़ी विशाल है, लेकिन उसका अंतरंग महावाक्या-चिन्तन में आता है, जिसे ज्ञान का सार-सर्वस्व कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा सम्बन्ध विशाल, विराट् के साथ आता है। देहगत चैतन्य और विराट् चैतन्य में सम्बन्ध जोड़ने का काम महावाक्य-चिन्तन से होता है। दूसरी प्रक्रिया भक्तियोग है।

कर्म में वैगुण्य अवश्यम्भावी

साम्य-सूत्र के सत्रहवें अध्याय के अन्त में जो सूत्र हैं, उन्हें हम आज लेना चाहते हैं। वे सूत्र हैं :

(1) 'नाम्ना सादृगुण्यम्'

(2) 'तद् हि पापापहारि'

सभी सन्तों, वैष्णवों, शैवों और अन्य उपासकों ने नाम की महिमा बतायी है। परन्तु इस सूत्र में वह एक विशेष रूप से बतायी गयी है। प्रथम सूत्र में बताया गया है कि नाम से सादृण्य होता है। ' सादृण्य' शब्द 'वैगुण्य' का विरोधी है। 'वैगुण्य' का अर्थ है, विगुणता, न्यूनता, कमी, खामी, त्रुटि। हमारे चिन्तन, आचरण, प्रयत्न और कर्मयोग में अनेक प्रकार की विगुणता, न्यूनता या कमी रह जाती है। उसकी पूर्णता नाम से होती है। मनुष्य परिपूर्णता के लिए कोशिश करता

है, पर वह सधती कहाँ है? मनुष्य का सारा-का-सारा प्रयत्न कितना भी विशुद्ध हो, तो भी विगुण रह जाता है। उसमें कुछ-न-कुछ कसर रह ही जाती है। अनवधान, प्रमाद या ज्ञान की कमी के कारण जो कमियाँ रह जाती हैं, वे कर्मयोग में बाधक होती हैं। आप खेत में कुछ बोयें और बोने के काम में कुछ कसर रह जाय, तो जो फसल आयेगी, उस पर उसका असर होगा ही। दक्षता या ज्ञान की कमी रही, तो कर्म पर उसका असर होता ही है। इसीलिए उस कर्म का पूर फल नहीं मिलता। परिणाम का नाश होता है, क्योंकि उसमें विगुणता रहती है। परमार्थ में जो विगुणता रह जाती है, वह नाम के कारण सद्गुण हो जाती है—गुणवती, परिपूर्ण हो जाती है। भक्ति-मार्ग की यही विशेषता है कि इसमें नाम-प्रताप से कर्मयोग की अपूर्णता पूर्ण हो जाती है। ज्ञान से वह पूर्ण हो सकती थी। परन्तु अपने पास ज्ञान तो है नहीं, इसलिए वह नहीं जाती। तब अशरण को नाम की शरण मिल जाती है। इस तरह नाम-स्मरण से साधक की आन्तरिक साधना पूर्ण होती है।

नाम-स्मरण के चमत्कार

ईश्वर-नाम की एक स्वयंभू शक्ति है। इसलिए नाम-स्मरण से चमत्कार भी होता है। मान लीजिये कि हमने बड़ी निष्काम बुद्धि और ईश्वरापण-वृत्ति से खेती की, पर उसमें कुछ न्यूनता रह ही जायेगी। इससे फसल ठीक न उगेगी। साधना में न्यूनता न रह जाय, यही हम चाहते हैं और खेती हमारी साधना है। परन्तु फसल डूबने पर साधना ही डूबी, ऐसा नहीं कहा जायेगा। साधना न डूबे, इतना कार्य नाम-स्मरण से हो सकता है। इतना ही नहीं, नाम से भौतिक चमत्कार भी हो सकता है। फसल भी पूर्ण आ सकती है। यह श्रद्धा की बात है। अगर हम नाम-स्मरण से कार्य करते हैं, तो वह नाम कार्य की आन्तरिक और बाह्य न्यूनता की भी पूर्ति करता है। हरि-नाम के प्रताप से ये चमत्कार हो सकते हैं। इस तरह हरि-नाम से दोनों सद्गुण (आन्तरिक और बाह्य सद्गुण) आते हैं। कर्म-विपाक की प्रक्रिया से न्यूनता की पूर्ति हो सकेगी यह आश्वासन कोई कर्मयोगी नहीं दे सकता। बल्कि वह कहता है कि कर्म-विपाक ही होगा। कर्म-विपाक कहता है कि 'जैसा बोओ, वैसा पाओ'। बबूल बोकर आम नहीं, बबूल ही पाओगे। परन्तु भक्तियोग में कर्म-विपाक की प्रक्रिया को भी खण्डित करनेवाली कोई चीज पड़ी है। इसका अनुभव भक्ति-मार्ग में आता है।

आखिर ईश्वर ही सब कुछ करता है। नाम-स्मरण में यह श्रद्धा है कि आप कुछ थोड़ा प्रयत्न करते हैं, तो उसमें जो कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति भगवान् ही करता है।

दिव्य जीवन का मंत्र

नाम-स्मरण का यह एक बहुत ही शास्त्रीय परिणाम है। इसका अर्थ हमें समझ लेना चाहिए। नाम-स्मरण का अर्थ है, अपनी हर कृति का ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना। हम जो भी काम करें, ईश्वर के नाम से करें, हरि-सेवा के भाव से करें। एक भाई ने हमसे कहा, "मैं हरिजन-सेवा करता हूँ, परन्तु परिणाम नहीं आता।" हमने उनसे कहा, "तुम अपने को 'हरिजन-सेवक' क्यों कहलाते हो? हरि-सेवक ही कहो। 'हरि-सेवक' के नाते तुम 'हरिजन-सेवक' बनोगे। 'जन-सेवक' और 'दुर्जन-सेवक' भी होओगे, पर कहलाओगे 'हरि-सेवक' ही।" जब कर्मयोग में भक्ति आती है, तो इस तरह का फर्क होता है। तो, अपना हर काम ईश्वर के साथ जोड़ देने का अर्थ है—अपना खाना और नींद भी ईश्वर के साथ जोड़ देना। तब कुल-का-कुल जीवन दिव्य जीवन बन जाता है। बाह्य रूप में चाहे वह व्यावहारिक जीवन क्यों न हो, परन्तु परिणाम में बाह्य और आन्तरिक जीवन दिव्य जीवन बन जाता है। वही हमें साधना है। इसलिए यह युक्ति सध जाय, तो बहुत बड़ी बात होगी।

'ईश्वर-दर्शन' की बात हम करते हैं, तो वह एक सांकेतिक ईश्वर-दर्शन हो सकता है। हम किसी एक संकेत को ईश्वर मानें, तो उसका दर्शन हो सकता है। जैसे चतुर्भुज रूप को ईश्वर मानें, तो चतुर्भुज रूप का दर्शन हो सकता है। योग और भक्ति की प्रक्रिया से वह दर्शन सम्भव है। अगर आप उसमें तन्मय हैं, तो आपको दर्शन के रूप में एक आश्वासन भी मिल सकता है। परन्तु वह ईश्वर-दर्शन परिपूर्ण नहीं। जैसे-जैसे मनुष्य ऊँचा चढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे उसकी ईश्वर-रूप की कल्पना भी ऊँची होती जायेगी। इस तरह दोनों में अन्तर रहेगा ही। वह एक आकांक्षा है और उसे रखते हुए हम अपना हर काम ईश्वर से जोड़ देंगे, तो मनुष्य-जीवन में चिन्ता, राग, द्वेष आदि कुछ नहीं रहेगा। उनका स्पर्श ही नहीं होगा। सारा जीवन पद्मपत्रवत् हो जायेगा। यह युक्ति हमें साधनी चाहिए। उसके लिए निरन्तर कोशिश करनी होगी।

इसकी बहुत आवश्यकता महसूस होती है। नाम-स्मरण-प्रक्रिया और महावाक्य-चिन्तन की प्रक्रिया, इन दोनों प्रक्रियाओं का हमने अनुभव किया है। एक प्रेम पर आधृत है, तो दूसरी ज्ञान पर। दोनों के बड़े-बड़े लाभ हैं। लेकिन नाम-स्मरण-प्रक्रिया सुलभतम है। अधिक-से-अधिक शीघ्र परिणाम लानेवाली है और अगर सब कर सकें, तो सबको सध सकनेवाली है। इसलिए भगवान् ने गीता के सत्रहवें अध्याय में साधन-चर्चा की समाप्ति करते हुए 'ॐ तत् सत्' मंत्र से परिसमाप्ति कर डाली है। यह हुआ "नाम्ना साद्गुण्यम्।'

'तद् हि पापापहारि'

नाम पाप का निरसन करनेवाला है। प्रथम सूत्र में कहा गया कि हमारी साधना में रहनेवाली अपूर्णता की पूर्णता नाम से होती है। परन्तु जहाँ हम साधना करते ही नहीं, पाप ही करते हैं, तो उसकी पूर्णता क्या होगी ? अगर हम बुराई ही करें, तो उसकी पूर्णता का अर्थ है, पूर्ण बुराई। इसलिए बुराई का तो नाश ही होना चाहिए। वह भी शक्ति नाम में है इसी आश्वासन के कारण करोड़ों लोगों ने धर्म का आश्रय लिया है। हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि जितने भी धर्म हैं, वे किसी-न-किसी रूप में ईश्वर का नाम लेते ही हैं। बौद्ध-धर्म ईश्वर का नाम नहीं लेता, ऐसा लगता है। परन्तु उसमें भी बुद्ध का नाम लिया ही जाता है। **'बुद्धं शरणं गच्छामि'** कहा ही जाता है। इसी तरह जैन-धर्म में भी ईश्वर नहीं है, परन्तु उसकी जगह पर रागद्वेषरहित पुरुष का चिन्तन होता ही है। सारांश, करोड़ों लोगों ने धर्म का स्वीकार किया है, वह इस आश्वासन से नहीं कि तुम अच्छा काम करो तो अच्छा फल पाओगे।

करोड़ों लोग धर्म का स्वीकार इसलिए नहीं करते कि उससे अर्थ-नियमन, काम-नियमन ठीक से होगा। एक वासना दूसरे से न टकराये, इसके लिए तो नीतिशास्त्र ही पर्याप्त है, धर्म की जरूरत नहीं।

भक्ति की महत्ता

धर्म की अपेक्षा इसीलिए है कि उससे पाप से छुटकारा पाने का आश्वासन मिलता है। यानी धर्म राष्ट्रपति का काम करता है—दया की दरख्वास्त लागू कराने का। बाकी तो न्यायाधीश, दण्ड-

नीति वगैरह सब हैं ही। आपने गलत काम किया, तो न्यायाधीश आपको सजा देगा। और नहीं किया, तो सजा न देगा। आप निर्दोष होंगे, तो न्यायालय से छूट जायेंगे। दोषी होंगे तो पाप के परिणाम में कम-बेशी दण्ड मिलेगा ही। यह साधारण व्यवस्था है। फिर भी दया के लिए राष्ट्रपति चाहिए। अवश्य ही राष्ट्रपति इतनी दया करता है कि फाँसी की सजा आजीवन जेल के रूप में बदल देता है। परन्तु नाम में ऐसी शक्ति है कि मनुष्य का कुल पाप समाप्त हो जाता है। उसका पुराना जीवन बिलकुल कट ही जाता है। उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह नव-मानव बन जाता है। यह आश्वासन दूसरा योग नहीं, भक्तियोग ही दे सकता है। भक्तियोग का यह अंश निकाल दो, तो लोगों को धर्म का आकर्षण नहीं रहेगा।

बौद्ध-धर्म में शरणागति

बहुतों का खयाल है कि बौद्ध-धर्म केवल नैतिक है। परन्तु हमने जहाँ तक उसे समझा है, वह वैसा नहीं है। **'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' 'धम्मं शरणं गच्छामि।'** इस शरणत्रयी में से **'धम्मं शरणं गच्छामि'** इतना ही अंश नैतिक है। **'संघं शरणं गच्छामि'** यह सत्संगति का परिणाम बतानेवाला है। सत्संगति से बड़ा लाभ होता है। सत्संगति की अपनी एक प्रक्रिया है, जो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। वह आपके हाथ से सदाचरण करवा लेती है। आप गलत राह पर चलते हों, तो आपको बचाती है। फिर आप नये पाप नहीं करते, तो आपको नया दण्ड भी नहीं मिलता। पर पुराने पापों के दण्डों से भी आप मुक्त हों, इसका कोई मंत्र सत्संगति नहीं दे सकती है। आपकी पुरानी कुबुद्धि में परिवर्तन हो और आगे आपसे पाप न हो, इतनी भी करामात कोई कर सकता है, तो वह भी कोई कम नहीं। इसलिए सत्संगति की महिमा अपनी जगह पर पूर्ण है। किन्तु जहाँ **'बुद्धं शरणं गच्छामि'** कहा, वहाँ आप पाप से मुक्त हो सकते हैं। यहाँ ईश्वर' की जगह एक आदर्श प्रकट मूर्ति के तौर पर 'बुद्ध' को रखा गया है। दूसरे धर्मों में जितनी गाथाएँ, कथाएँ, मूर्तियाँ ईश्वर के लिए बनायी गयी हैं, उतनी बौद्ध-धर्म में बुद्ध के लिए हैं।

मनुष्य भक्ति का आश्रय इसीलिए लेता है कि उससे उसका वासना के साथ पूरा-पूरा पाप समूल कट जाता है। यही आश्वासन ज्ञान-योग में भी दिया है। कहा गया है कि ज्ञान से सब कर्म

भस्म हो जाते हैं। लेकिन वह मार्ग विकट है। आप तैरकर भी नदी पार कर सकते हैं और नौका में बैठकर भी। आपकी बाहुओं में बल हो, तो तैरकर जाओ और बल न हो, तो नौका काम देगी। इसलिए भक्ति का आश्रय सबको मिलता है।

'ईश्वर' के नाम से पाप-क्षालन

सब धर्मों में ऐसी गाथाएँ हैं कि ईश्वर के नाम से पाप कटते हैं। बौद्ध-धर्म में आम्रपाली वेश्या और चोर आदि की कहानियाँ आती हैं। किन्तु किसी सत्पुरुष की शरणता की अपेक्षा ईश्वर की शरणता में अधिक सुरक्षितता है। बुद्ध एक सत्पुरुष हैं। इसलिए उनके दर्शन और स्पर्शन से परिवर्तन हो सकता है। परन्तु उनके स्पर्श या दर्शन से पुराने पाप भी कट जाते हैं, ऐसा आश्वासन किसी सत्पुरुष या संत के लिए दिया जाये, तो संत स्वयं घबड़ा जायेंगे। वे कहेंगे कि हम पर यह बोझ मत डालिये! कोई मनुष्य संत की राह पर चलने के बजाय उस पर बोझ डालेगा, तो वह ठीक नहीं। संत हमसे जो कहते हैं, उसी के अनुसार काम करना चाहिए।

अब सवाल यह है कि आश्वासन यथार्थ है या भ्रामक? क्या सचमुच नाम-स्मरण से पाप खण्डित होते हैं? मान लीजिये, हमने बचपन में कोई गलत काम कर लिया और इसीलिए शरीर में बीमारी आयी। तो क्या किसी भगवान के नाम से यह पाप कट सकता है? हाँ, कट सकता है। अगर भाव की तीव्रता हो, तो उसी क्षण कुल-का-कुल शरीर स्वस्थ हो सकता है। यह हमारी श्रद्धा है। हम उसे साबित नहीं कर सकते, परन्तु हमारी श्रद्धा है कि सब प्रकार के पुराने पाप कट सकते हैं—पाप के परिणाम भी कट सकते हैं। अगर यह श्रद्धा न हो, तो यह मार्ग भी मुश्किल है। ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग सुलभ है। परन्तु भक्ति की प्राप्ति कठिन है। भक्ति-प्राप्ति के बाद सब सुलभ है। फिर कोई सवाल है ही नहीं। फिर सब आनन्दमय है।

भक्ति की प्राप्ति श्रद्धा पर निर्भर

भक्ति की प्राप्ति श्रद्धा पर निर्भर है। श्रद्धा को लोगों ने जितना दुर्लभ माना है, उतनी वह दुर्लभ नहीं है। कोई भी बच्चा श्रद्धा के साथ ही जन्म पाता है। माता-पिता पर उसकी अपार श्रद्धा होती है। इसलिए आत्मज्ञान के समान श्रद्धा दुर्लभ वस्तु नहीं है। परन्तु वर्तमान सामाजिक

परिस्थिति के कारण वह दुर्लभ अवश्य बन गयी है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर श्रद्धा सुलभ मालूम होती है। **'तत्त्वमसि'** कहने से वह सारी विराट् शक्ति अपने में लायें, यह ज्ञान-मार्ग की प्रक्रिया है। लेकिन नामस्मरण से अपने सारे पाप, पुराने भी, कट जाते हैं। इसलिए इसे आसान मार्ग कहा है। गीता के **'क्लेशः अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि सगुण मार्ग में क्लेश नहीं है, ऐसा मत समझो। उसमें क्लेश कम है, ऐसा भी मत मानो। यह पक्का समझ लो कि सगुण उपासना में भरपूर क्लेश है। परन्तु निर्गुण उपासना में सगुण से भी अधिक है—**'अधिकतरः'**।

बापू ने बार-बार कहा है कि जिसे नाम-स्मरण का आधार मिला, उसे औषध की जरूरत नहीं। रामदास का वाक्य है : **'जयासि श्रीराम नाम, तया औषधाचे काय काम?'** बापू की श्रद्धा यह थी कि शरीर और मन के लिए भी नाम से बढ़कर कोई औषध नहीं है। अन्तिम दिनों में उन्हें खाँसी हुई और कुछ मानसिक क्षोभ भी होता था, तो वे यही कहते कि 'यह मेरी नाम-स्मरण की कमी है'। उनके जन्मदिवस के अवसर पर हमें नाम-स्मरण की महिमा गाने का मौका मिला, यह हम अपना बहुत बड़ा भाग्य समझते हैं।

मेलकोटे (कर्नाटक)

2-10-'57

४. कर्मयोग की प्रक्रिया

कर्ममातृकम् अकर्म (सूत्र 17)

द्विरूपं तु (सूत्र 18)

व्यक्तलिंगम् एकम् (सूत्र 19)

अव्यक्तलिंगम् अपरम् (सूत्र 20)

शुक-जनकयोः एकः पंथा (सूत्र 23)

साम्ययोग की साधना और परम साम्य का लक्ष्य, इतना कहने से साध्य और साधन दोनों निर्दोष हो जाते हैं। उसके लिए एक मददगार प्रक्रिया ज्ञानयोग की है। महावाक्य-चिन्तन में उसका थोड़े में विचार किया गया है। उसके बाद इसी प्रकार की भक्ति की साधना की, जो अपेक्षाकृत कुछ आसान हो जाती है, यद्यपि वह भी कठिन ही है, नाम-स्मरण की प्रक्रिया में चर्चा की गयी। नाम-स्मरण से सबको लाभ होता है, ठीक राह पर चलनेवालों को भी और गलत राह पर चलनेवालों को भी। ठीक राह पर चलनेवालों की गति कम हो, उसके कारण वैगुण्य या न्यूनता रहे, तो नाम-स्मरण से साद्गुण्य प्राप्त होगा, वैगुण्य की पूर्ति होगी। जिन्हें पूर्वकर्म के कारण दुराचरण की राह प्राप्त हुई है, उन्हें नाम-स्मरण से उससे भी छुटकारा मिलेगा। ऐसा परम आश्वासन दिया गया है। इस तरह साम्ययोग की मदद में ज्ञान और भक्ति की प्रक्रियाएँ हमने देखीं।

कर्म से ही अकर्म का जन्म

अब 'कर्मयोग' लेंगे। इसका सांगोपांग विवेचन 'गीता-प्रवचन' में कई अध्यायों में मिलकर किया गया है। परन्तु साम्ययोग-सूत्रों में उसकी विशेष छानबीन पाँचवें और सत्रहवें अध्याय में की गयी है। पाँचवें अध्याय का एक सूत्र हम लेते हैं : **'कर्ममातृकम् अकर्म '**।

अकर्म के लिए कर्म मातृस्वरूप है, ऐसा इस सूत्र का अर्थ है। यह विचार भी एक विशेष विचार है और इस सूत्र की भाषा भी विशिष्ट है। इसमें कर्म को मातृस्थान में माना गया है। कर्म यानी स्वधर्माचरणरूप कर्म, जिसे हम लौकिक भाषा में 'कर्तव्य' कहते हैं। लेकिन जो सहजप्राप्त कर्तव्य है, अपनी ओर से उठाया हुआ नहीं है, वह कर्म है। ऐसा सहजप्राप्त कर्म मातृस्थान में है।

यानी साधक को जितनी साधना करनी होती है, वह सब शिशुवत् है। यहाँ तक कि जिसे हम 'अन्तिम-अवस्था' यानी अकर्म कह सकते हैं, वह भी कर्म का आभारी है और एक तरह से कर्मजन्य ही है। इसीलिए हम कहते हैं कि अकर्मदशा में कर्म का स्वरूप बिलकुल बदल जाता है। उनका सीधा जन्य-जनक सम्बन्ध या तार्किक सम्बन्ध शायद नहीं भी कहा जाय, फिर भी एक प्रकार से कर्म से ही अकर्म निकलता है।

कर्म से मोक्ष-प्राप्ति

साधारणतया माना गया है कि कर्म बन्धनकारक है। गीता में भी ऐसी भाषा आती है। कम-से-कम हिन्दुस्तान के तत्त्वज्ञान में तो करीब-करीब यह सर्वमान्य वस्तु है। 'करीब-करीब' मैंने इसलिए कहा कि एक पक्ष यह भी कहता है कि कर्म से ही मोक्ष, जिसे 'स्वर्ग' या स्वर्ग-तुल्य अवस्था कह सकते हैं, मिलता है। **'कर्मभिः निःश्रेयसम्'**—कर्म से ही मुक्ति या अन्तिम ध्येय की प्राप्ति होगी, ऐसा माननेवाला एक पक्ष हिन्दुस्तान में है। उसे 'पूर्वमीमांसा' कहते हैं। उसके अलावा हिन्दुस्तान में दूसरा कोई पक्ष नहीं, जो सीधे कर्म से मुक्ति दिलाता हो। सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक या जैन-बौद्ध भी मानते हैं कि कर्म बन्धनकारक है। हाँ, एक चार्वाक ऐसा माना जायेगा, जो कर्म को महत्त्व देता है; परन्तु मुक्ति को नहीं मानता। वह इहलोक-परायण माना जायेगा। उसकी दृष्टि दूसरी ही है। परन्तु **'कर्मभिः निःश्रेयसम्'** कहनेवाले इहलोक-परायण नहीं। वे कहते हैं, आत्मा को ऊँची अवस्था प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त करनी है और वह कर्म से ही प्राप्त हो सकती है। कर्म का सीधा परिणाम है ऊँची अवस्था प्राप्त होना, जिसे स्वर्ग, मोक्ष, परम कल्याण, नि:श्रेयस् आदि कहा जायेगा। वह तत्वज्ञान का ही एक पक्ष हो सकता है।

जो इहलोक के बाद जीवन ही नहीं मानता उसकी गिनती तत्वज्ञान में नहीं होती। आधुनिक भाषा में उसे **'सेक्यूलरिज्म'** या **'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म'** कहा जायेगा। वह ऐहिकवादी है, ऐसा बहुतों का गलत खयाल हो गया है; परन्तु वह वैसा नहीं है। वह कहता है कि मन विश्व का प्रतिबिम्ब है, विश्व मन का प्रतिबिम्ब नहीं। और विश्व का, 'मॅटर' का स्वरूप कया है, इसका निर्णय हम विज्ञान पर छोड़ते हैं। विज्ञान का आज तक का निर्णय यह था कि 'मॅटर' जड़ है। उसी

में कुछ हलचल पैदा होती है, तो वह चैतन्य का आभास है, परन्तु वह आभासमात्र ही है। इस तरह 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' जड़वादी होता है। परन्तु वास्तव में वह जड़वादी नहीं है। अब विज्ञान संशय प्रकट कर रहा है कि शायद विश्व चेतन भी हो। इसलिए अब 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' संशयवादी बना है, जो पहले जड़वादी था। लेकिन आगे विज्ञान कहेगा कि विश्व का स्वरूप चेतन है, तो वह 'ब्रह्मवादी' होगा।

शांकरभाष्य में लिखा है कि जो जड़ दीखता है, वह सुप्त चेतन है। पहले विज्ञान कहता था कि वास्तव में विश्व जड़ है, परन्तु जो हलचल दीखती है, वह चैतन्याभास है। अब अगर यह निर्णय हो जाय कि सारा विश्व ही चैतन्यमय है, तो विज्ञान कहेगा कि जो जड़ दीखता है, वह चैतन्यलोप है—सुप्त-चैतन्य है। सारी सृष्टि समाधिस्थ है। हमारे सामने जो पुस्तक है वह जड़ दीखती है। परन्तु वह हमारे साथ बोलती है, उसका हमारे दिमाग पर असर होता है। वह अगर पत्थर जैसी जड़ हो, तो असर कैसे होगा? इसलिए इसका रूप चैतन्यमय है। यह पुस्तक हजारों चेतनों को हिलाती-डुलाती है, इसलिए वह चेतन है, सुप्त चेतन है। पत्थर को हम जड़ समझते हैं, परन्तु कितने चेतनों को वह प्रेरणा देता है, कितने लोग उसकी पूजा करते हैं, इसलिए वह सुप्त चेतन है। इस तरह अब 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' ब्रह्मवादी होगा।

दूसरा 'मटीरियलिज्म'—जो कहता है कि खाओ, पियो और मौज करो, वह तुच्छ वस्तु है। परन्तु 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' का स्थान तत्त्वज्ञान में इसलिए आया कि वह विश्व के स्वरूप का निर्णय विज्ञान पर छोड़ता है और सम्भव है कि विज्ञान यह निर्णय दे कि विश्व चेतनामय है।

जेम्स जीन्स की मिसाल

जेम्स जीन्स ने एक पुस्तक लिखी है—'मिस्टीरिअस यूनिवर्स' (गूढ़ विश्व)। वह गणितज्ञ था। गणितज्ञ की दृष्टि से ही उसने सृष्टि की ओर देखा। वह ब्रह्मवादी नहीं था। परन्तु अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्भवतः कुल सृष्टि में कुछ विचार है, कुछ आयोजन है। ठीक वही तर्क ब्रह्मसूत्र में दिया गया है। वहाँ सांख्यों को उत्तर दिया गया है कि तुम जड़ प्रकृति का अनुमान

करते हो, परन्तु वह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि से देखने पर विश्व की रचना की उपपत्ति नहीं दीखती। सृष्टि की रचना की ओर हम बारीकी से देखते हैं, तो जड़ प्रकृति का अनुमान ठीक नहीं दीख पड़ता है। इसलिए चैतन्य का ही अनुमान करना पड़ेगा।

अकर्म की माता कर्म

इस तरह मीमांसकों और चार्वाक को छोड़कर भारत में ऐसा कोई तत्त्वज्ञान मौजूद नहीं, जो यह मानता हो कि कर्म से सीधा निःश्रेयस् प्राप्त होता है। गीता में भी, जो कि आरम्भ से अन्त तक कर्मयोग से भरी है, वैसा नहीं कहा है। हमने गीता को 'साम्ययोग' नाम दिया है। साधना का ढाँचा क्या होना चाहिए, इसका उत्तर गीता देती है—'कर्म' | बाकी की सब चीजें कर्म में आती हैं। साधना कर्मजन्य है। अन्तिम अवस्था, जिसे गीता 'अकर्म' नाम देती है, वह भी कर्मजन्य है, कर्म का शिशु है। हम मातृहत्या नहीं कर सकते, इसलिए जब तक कि शरीर कायम है, मुक्तावस्था में भी कर्म का पालन होगा। शरीर का अस्तित्व कर्म की आवश्यकता की निशानी है। जब उसकी आवश्यकता नहीं रहेगी, तब देह भी नहीं रहेगी—गिर जायेगी। इसलिए निरन्तर कर्म चलते रहना चाहिए। साधना का मुख्य और स्थूल अंश कर्ममय होना चाहिए। खाना, पीना, निद्रा आदि सभी कर्म के ही प्रकार हैं। खाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह चिन्तन, ध्यान, निद्रा, विश्राम आदि सब कर्म का ही विस्तार है। साम्ययोग की सिद्धि के लिए इस कर्म-विस्तार को टालना नहीं होता, बल्कि इसका सांगोपांग आचरण करना होता है। यही गीता की दृष्टि है।

'कर्ममातृकम् अकर्म' इस सूत्र में भी यही बात विशेष ढंग से बतायी गयी है और एक बहुत गहरा विचार छेड़ा है। जब तक उस विचार के बारे में निस्सन्देहता उत्पन्न नहीं हुई, तब तक हम गीता पर चिन्तन करते रहे, लेकिन उस पर लिखा नहीं। लेकिन जब पाँचवें अध्याय के बारे में हम निस्सन्देह हो गये, तब लिखना आरम्भ किया। 'गीताई' हमने पाँचवें अध्याय से ही लिखनी शुरू की और जब विश्वास हुआ कि वह ठीक हुआ, तब हमें लगा कि बेड़ा पार होगा। वैसे ग्यारहवाँ अध्याय छंदोरचना की दृष्टि से कुछ कठिन है, परन्तु छंदोरचना का हमें अभ्यास है। लेकिन गीता-तत्त्वसार पाँचवें अध्याय में गहराई में जाता है। उसके बारे में बहुत भ्रम पैदा हुए थे। हमने गीता

की जितनी अधिक टीकाएँ पढ़ीं, उतना ही वह भ्रम और बढ़ा। हमने शंकराचार्य, ज्ञानदेव और अरविन्द का गहराई से अध्ययन किया और बाकी की टीकाएँ देख लीं। लेकिन ज्ञानदेव और शंकराचार्य के जैसे बड़े-बड़े भाष्यकारों की टीकाओं में भी पाँचवें अध्याय में उलझन-ही-उलझन है। चाहे उनमें उलझन न भी हो, लेकिन हमें मालूम हुई। इसलिए हमने वे टीकाएँ अलग रख दीं और चिन्तन किया। वेदों से लेकर जो परम्परा चली आयी है, उसे देखा तो रहस्य खुल गया।

रहस्य यह है कि अकर्मदशा दोहरी होती है। **'द्विरूपं तु'** यह सूत्र है। अकर्म द्विरूप होता है। ऐसा उसका वर्णन किया गया है।

व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग

उसके साथ-साथ और सूत्र हैं :

'व्यक्तलिंगमेकम्'

'अव्यक्तलिंगमपरम्'

अकर्म की एक प्रक्रिया है व्यक्तलिंग और दूसरी है अव्यक्तलिंग। दोनों शास्त्रीय शब्द हैं। उपनिषदों में ये शब्द आते हैं। एक में लिंग व्यक्त है और दूसरे में अव्यक्त है। इसका अर्थ है कि दोनों ज्ञान की अवस्थाएँ हैं, ज्ञान से भरी हैं, ज्ञानमय हैं; लेकिन एक में ज्ञान गुप्त है, ज्ञान का लिंग यानी पहचान गुप्त है। दूसरे में ज्ञान ही व्यक्त होता है। जहाँ ऐसे ज्ञानी हों, जो स्थूल अर्थ में कर्म कम करते हों और जिनकी वाणी से या थोड़ी हलचल से प्रतिक्षण ज्ञान ही व्यक्त होता हो, ऐसे ज्ञानी व्यक्तलिंग कहलायेंगे। और जिनका ज्ञान अन्दर गुप्त रहता है, खूब भरा रहता है; परन्तु परोपकार का कार्य चलता रहता है, लोग उसे ग्रहण करते रहते हैं, उस कार्य में साथ देते रहते हैं, वहाँ चोरी से कुछ थोड़ा ज्ञान मिल भी जाता है, बाकी कर्म-प्रवाह स्पष्ट और ज्ञान गुप्त रहता है, वे ज्ञानी अव्यक्तलिंग कहलायेंगे।

किन्तु कर्मयोग की दृष्टि से सोचेंगे, तो जहाँ स्पष्ट रूप से कर्म दीख ही रहा है, ज्ञानी चौबीसों घण्टे कर्म करता दीखता है, स्वयं काम करता और दूसरों से करवाता है, वह व्यक्तलिंग है। यानी

वहाँ उसका चिह्न या लिंग कर्म के रूप में प्रकट है। लेकिन जहाँ ऐसा कर्म प्रकट नहीं है, प्रेरणारूप में प्रकट है, अव्यक्त रूप में छाकर असर डालता है, वह अव्यक्तलिंग है।

इस तरह अव्यक्तलिंग के परस्परविरोधी दो अर्थ हो जाते हैं। कर्मयोगी को अव्यक्तलिंग कहा जाय, तो संन्यासी को व्यक्तलिंग कहा जायेगा। संन्यासी को व्यक्तलिंग कहा जा सकता है, तो फिर कर्मयोगी को अव्यक्तलिंग कहा जायेगा। इस तरह व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग, ये दो शब्द ऐसे हैं कि कौन अव्यक्तलिंग है और कौन व्यक्तलिंग है, यह बात वे बोल नहीं रहे हैं। उनसे इतना ही मालूम होता है कि दोनों ज्ञानी ही हैं। एक दृष्टि से देखा जाय, तो एक स्थिति एक दृष्टि से कर्म करते हुए अकर्म का दर्शन करानेवाली दीखे पड़ती है, तो दूसरी दृष्टि से अकर्म में कर्म दिखानेवाली साबित होती है।

आश्रम-जीवन अकर्म में कर्म

हम अपनी ही मिसाल लेते हैं। हम आश्रम में जो काम करते थे, उसके बारे में कहा जा सकता है कि वह अकर्म में कर्म था। यानी हम सामाजिक कार्य नहीं करते थे, बहुत-सी प्रवृत्तियों में भाग न लेते थे, योजना नहीं बनाते थे, आश्रम में सहजभाव से काम होता था। जो काम होता था, उसमें छुट्टी नहीं थी, बिना आराम के काम चलता था। वह एक अकर्म-दशा थी। परन्तु उसमें हमें ऐसा अनुभव नहीं होता था कि हम किसी कोने में पड़े हैं या विश्व या सृष्टि की हमें पहचान नहीं है। जो जागतिक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनसे हम अलग पड़े हैं, ऐसा भास नहीं होता था; बल्कि बिलकुल सृष्टि के बीच में हैं, ऐसा ही लगता था। मैंने कहा भी था कि "सारी दुनिया का मध्यबिन्दु है, परंधाम पवनार। कुल दुनिया उसके इर्द-गिर्द खड़ी है। परंधाम पवनार मध्यबिन्दु सिर्फ इसीलिए है कि हम वहाँ रहते हैं। और कोई कारण नहीं है।" हमें ऐसा भास कभी नहीं हुआ कि हम विश्व-शक्तियों से अलग पड़े हैं। बल्कि उल्टा ही था। उन विश्व-शक्तियों के साथ चलनेवाले आन्दोलनों में हिस्सा लेनेवालों को उन आन्दोलनों का जो ज्ञान था, उससे बहुत ज्यादा और बहुत बारीक ज्ञान हमें था। इस तरह एक प्रकार से वह अकर्म में कर्म था।

पद-यात्रा भी अकर्म-दशा

आज हमारी जो भूदान-यात्रा चल रही है, उसमें अनेक मनुष्यों के साथ हमारा सम्बन्ध आता है। योजना बनती है, बीच-बीच में संकल्प भी होते हैं, इस तरह बड़ा ऊधम दीखता है, परन्तु अन्दर अत्यन्त शान्ति है। तो, इस अवस्था में कर्म में अकर्म का दर्शन होता है। दूसरे अर्थ में देखा जाय, तो आश्रम में हम तीव्र कर्म करते थे। दिन में 4 घण्टे काम करते थे, जरा भी आराम न लेते थे। लेकिन उस समय शान्ति का अनुभव था। इस तरह वह कर्म में अकर्मवाली अवस्था थी। और इस वक्त हम क्या करते हैं? थोड़ा-सा घूम लेते हैं और कुछ नहीं करते। इस वक्त न हम खेती करते हैं, न बुनाई, न बीमार की सेवा करते हैं, न खाद के गढ़े खोदते हैं और न बच्चों को पढ़ाते हैं। ठीक आठ बजे सो जाते हैं। कताई भी कभी-कभी बन्द रहती है। पर हमें उसकी कोई चिन्ता नहीं है। जिस कताई के लिए हमारा 1925 से लेकर 1950 तक पचीस साल में एक भी दिन नागा नहीं हुआ, उसमें भी भंग होता है, तो हमें कुछ नहीं लगता। हमारा पैदल चलने का एक संकल्प चल रहा है, तो दूसरे सब संकल्प बाजू में रखे हैं। कुल मिलाकर इस वक्त हमसे कोई उत्पादक कार्य नहीं हो रहा है। इस तरह यह हमारी अकर्म-दशा है, ऐसा लगता है, परन्तु इसमें भी काफी कर्म होता है।

दोनों में परस्पर विरोध नहीं

इस तरह एक ही अवस्था को कर्म में अकर्म-दर्शन और अकर्म में कर्म-दर्शन कह सकते हैं। परन्तु दो आदर्शों का भेद मानकर उनकी तुलना करके एक श्रेष्ठ है और दूसरा कनिष्ठ है, ऐसी चर्चा बहुत चली है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में इसकी चर्चा करके कर्मयोगी को श्रेष्ठ माना है। उनके पहले कितनों ने संन्यासी को श्रेष्ठ माना था। तो ऐसे शख्स का आना लाजिमी था, जो कहे कि कर्मयोगी श्रेष्ठ हैं। इस तरह का गौण-मुख्य-भेद कुछ अंश में शांकर-भाष्य में भी है और पूर्ण अंश में गीता-रहस्य में। शांकर-भाष्य में 'कुछ अंश में है', ऐसा इसलिए कहा कि आचार्य का विवेचन बारीक और सूक्ष्म होता है। दोनों एक ही है, ऐसे वचन भी उनके भाष्य में पड़े हैं। परन्तु उनका झुकाव संन्यास की ओर था, यह सर्वत्र दीख पड़ता है। साम्य-सूत्रों में झुकाव की

बात नहीं, दोनों को अक्षरश: एकरूप कहा है। कर्म में अकर्मवाली अवस्था सामान्यतया सुलभ है और अकर्म में कर्मवाली अवस्था कठिन; पर दोनों एक ही हैं, इसी निश्चय पर 'साम्य-सूत्रों' का लेखक आया है।

शुक और जनक एकरूप

इसीलिए अन्त में एक सूत्र में कहा गया है—**'शुक-जनकयोरेक: पंथा:।'** शुक का एक पंथ है और जनक का दूसरा पंथ, इस तरह लोकमान्य ने गीता-रहस्य में लिखा है। इस तरह दो पंथों की बात की गयी है। विहंगम और पिपीलिका, संन्यास और योग, ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा आदि अनेक प्रकार के भेद प्रकट किये गये हैं। परन्तु हमारे मन का निश्चय है कि शुक और जनक का एक ही पंथ है, बाकी सबका अन्य पंथ है। कर्मयोग का विचार बहुत बुनियादी है। साम्य-योग की साधना में कर्मयोग नहीं टालना चाहिए। कर्म टालने के प्रयत्न में बन्धन बढ़ेगा, छूटेगा नहीं।

सोमनहल्ली, जिला-मंड्या (कर्नाटक)

3-10-'57

गुण-विकास की प्रक्रिया

५. त्रैगुण्य-सिद्धान्त

प्रकृति: शोध्या (सूत्र 75)

हम एक बहुत विशाल, व्यापक काम में लगे हैं। मैं नहीं मानता, इससे अधिक व्यापक और विशाल कार्य की कोई कल्पना सारे समूह के लिए आज तक अपने देश में हुई है या हो सकती है। व्यक्तिगत तौर पर जीवन में, चिन्तन में या समाधि में कोई मनुष्य बहुत गहराई में पहुँच जाता है। वह अलग बात है, परन्तु कुल समाज के लिहाज से इससे अधिक गहरी व्यापक योजना शायद ही हो सकेगी। कुल समाज में—व्यक्ति तथा समूह के जीवन में हम परिवर्तन लाना चाहते हैं। मेरी मान्यता है कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सत्ता के जरिये सेवा का जो कार्य हमें मिला, सरकार बना करके हमें लेना पड़ा है, वह एक प्रवाह-पतित कार्य है। उसे हम टाल नहीं सकते थे, पर वह अपने में महत्त्व का नहीं है। वह प्राप्त कार्य है, जिसे हाथ में लिये बिना चारा नहीं था। जिन लोगों ने वह कार्य हाथ में लिया और उसको चला रहे हैं, उनका मैं उपकार मानता हूँ। परन्तु उतना ही करने के लिए या उतने में ही सन्तुष्ट हो जाने के लिए हमने स्वराज्य प्राप्त किया हो, तो वह स्वराज्य अधिक मूल्यवान् नहीं रहेगा। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमने गांधीजी के मार्ग-दर्शन में जिन विशेष प्रकार के साधनों का इस्तेमाल किया, उनकी भी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी।

आध्यात्मिक विचारों की शरण

हमने जान-बूझ कर वह रास्ता छोड़ा है। फिलहाल हमारे जैसे जो थोड़े बचेंगे, उन अल्पसंख्यकों पर गुरुभार आता है। उस गुरुभार के लायक हमें बनना होगा। हममें अपने बीच गाढ़ अनुराग, नम्रता और अपने को शून्य बनाने की वृत्ति होनी चाहिए। इसलिए आत्मशोधन की जरूरत है और हमारे सेवकों की अन्तःशक्ति बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस लिहाज से बार-बार मैं अपना आश्रय आध्यात्मिक विचारों में ढूँढ़ता रहता हूँ। मेरी मान्यता है कि हम सबको उस आध्यात्मिक क्षेत्र से बल प्राप्त करना चाहिए।

जीवनाधार गहरा हो

हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन का आधार ऊपर का नहीं, बल्कि गहरा आधार पकड़ें। जब हम हमारे समाज के बुनियादी परिवर्तन की बात करते हैं, तो हमें उसका बुनियादी परिचय भी होना चाहिए। आज के समाज की प्रकृति की बनावट का हमें पूरा ज्ञान होना चाहिए। सृष्टि, समाज और प्रकृति तीनों का परिचय होना चाहिए। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हमारी यह देह-प्रकृति या शरीर-प्रकृति उस बनावट से मुक्त नहीं है।

यह देह एक अमूल्य साधन हमें मिला है। उसमें पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेनेन्द्रिय और पंचविध अन्त:करण हैं। वह एक बहुत बड़ी शक्ति है, हेय वस्तु नहीं। लेकिन उसका समुचित उपयोग करने के लिए उससे अपने को अलग पहचानने की जरूरत है।

सांख्यों का त्रैगुण्य-विचार

सांख्यों ने विश्लेषण कर प्रकृति में तीन गुण बताये हैं। उन्होंने केवल समाज का विश्लेषण नहीं, बल्कि सृष्टि का भी विश्लेषण किया। समाज, सृष्टि और चित्त, तीनों का विश्लेषण कर सांख्यों ने हरएक में त्रिगुणों की उपपत्ति खोज निकाली। ये उपपत्तियाँ हमारे लिए हर प्रकार से लाभदायी हैं। समाज-व्यवहार में चित्त को प्रसन्न रखने में, चित्त का उपयोग करने में, उस पर अंकुश रखने में और सृष्टि के मूलभूत तथ्यों की खोज में त्रैगुण्य का यह विचार बहुत लाभदायी है।

विकासवाद तथा अन्य वाद

ऐसी उपपत्तियाँ तत्त्वज्ञानियों ने, ज्ञानी पुरुषों ने समय-समय पर खोज निकाली हैं। बीच में डार्विन का 'विकासवाद' निकला। भिन्न-भिन्न जीव-सृष्टि कैसे विकसित होती है, इसकी एक विश्लेषणात्मक खोज उन्होंने की। मनुष्य पहले कोई दूसरा प्राणी था, मछली से विकसित होते-होते मनुष्य हुआ है, उसकी प्रकृति और जीवन अन्य प्राणियों से भिन्न नहीं—इस तरह की एक उपपत्ति उन्होंने हमारे सामने रखी। जब वह उपपत्ति निकली, तब समाज में समाजशास्त्र,

राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र की जो भी चर्चा होती थी, वह डार्विन के विकासवाद का उपयोग किये बिना नहीं होती थी। इस तरह उस विकासवाद ने काफी जोर पकड़ा था। लेकिन अब उसका वह जोर कम पड़ गया है, क्योंकि उसमें जो न्यूनता थी, उसका भान हो गया है। वह विचार ज्यादा वैज्ञानिक नहीं था, इसलिए पीछे पड़ गया। विज्ञान में यही होता है। उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

इन दिनों एक नया वाद चल रहा है—आइन्स्टाईन का 'सापेक्षतावाद'। यह बड़ा जबरदस्त वाद है। आज के चिन्तन पर उसका असर पड़ा है। हमारे इस देश में भी आजकल तत्त्वज्ञान की बड़ी ऊँची उड़ानें ली गयी हैं, जिनमें श्रीअरविन्द की 'सुप्रामेण्टल थिअरी' आती है। ऊपर ईश्वर तक पहुँच कर मुक्तिरूपी पूँजी हासिल करके नीचे उतर कर फिर सारे समाज को वैसा रूप देना—यह विचार अरविन्द ने चलाया। ये जो बहुत-सी उपपत्तियाँ आती हैं, वे हमारी जीवन-पद्धति पर असर डालती हैं। ऐसा ही एक वितर्कवाद है, जिसे मार्क्स ने हमारे सामने रखा।

कार्यकर्ता वादों का चिन्तन करें

विकासवाद, सापेक्षतावाद, अवतारवाद और उसमें भी अतिमानसावतारवाद, इन सबका हमारे कार्यकर्ताओं को थोड़ा-थोड़ा चिन्तन करना चाहिए। इन दिनों 'इकॉनॉमिक थिअरी' पर खूब चर्चा चली है। 'कन्ट्रोल्ड इकॉनॉमी' या 'लेसे फेअर इकॉनॉमी' वगैरह की चर्चा उसमें होती है। लेकिन वह तो छोटी बात है। यह गहरे पानी में ले जाने वाली नहीं है। उससे जीवन-शोधन नहीं होता। जीवन-शोधन के लिए आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान जरूरी है। जीवन-सिद्धान्त की गहरी चर्चा तत्त्वज्ञानी किया करते हैं। हमें उनका चिन्तन, मनन और उन विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

त्रैगुण्य समग्र सृष्टि में व्याप्त

सांख्यों ने जिस त्रैगुण्य-सिद्धान्त का वर्णन किया है, वे तीन गुण चित्त, समाज और सृष्टि में अपने ढंग से भरे रहते हैं। यह सिद्धान्त जबसे निकला है, तबसे कायम ही है। वह वेदान्त में

बेजोड़ साबित हुआ है। उसका खण्डन नहीं हुआ और न हो ही सकता है। उसकी जगह कोई दूसरा ले नहीं सकता। महाभारत में एक जगह व्यासदेव ने सांख्यों का गौरव गाया है :

'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन् महात्मने।'

लोगों में जो भी ज्ञान फैला है, सब-का-सब सांख्य से आया है—ऐसा गौरवपरक श्लोक महाभारत में सांख्यों के लिए आया है।

त्रैगुण्य की यह उपपत्ति इतनी व्यापक है कि तीनों क्षेत्रों में व्याप्त है। वह बड़ी अद्भुत है। पेन, पुस्तक, मूर्ति, इन सबमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भरे हैं। ये सृष्टिगत चीजें हैं, इसलिए जड़ मानी जाती हैं। परन्तु इन जड़ वस्तुओं में भी तीन गुण भरे हैं। किसी भी जड़ वस्तु को देखने पर हमारे मन में भावनाओं की जो तरंगें उठती हैं, वे किसी भी व्याख्याता के व्याख्यान से कम नहीं हैं। 'गुरुबोध' ग्रंथ जड़ है, लेकिन उसके पढ़ने से ज्ञान मिलता है, यह अद्भुत ही है। यह है पेन। यह जड़ है, पर दूसरों का विचार समझाने में इसका उपयोग होता है। यह पेन जड़ है, इसे चैतन्य हासिल है यह कबूल नहीं; पर शेक्सपीयर का पेन इंग्लैण्ड में रखा हुआ है। लोग उसे देखने के लिए आज भी जाते हैं। क्यों जाते हैं? इसलिए कि उस पेन में भी कुछ चीज अवश्य होगी। कारण, उसके द्वारा कितनी आश्चर्यकारक बातें लिखी गयीं! सारांश, उस पेन में भी सत्त्वगुण है।

ये हाथी-दाँत की मूर्तियाँ बंगलौर के कॉरपोरेशन की ओर से हमें प्रेम से भेंट दी गयी हैं। मैं तो मूर्ति-पूजक हूँ नहीं, पर प्रेम से दिया है, इसलिए परित्याग नहीं करूँगा। इसमें हाथी के दाँत के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी उससे जो भाव प्रकट होता है, वह किसी वक्ता के व्याख्यान से कम नहीं, क्योंकि उससे सत्त्वगुण प्रकट हो रहा है, जो कि वहाँ अव्यक्त रूप में है। इस तरह सृष्टि में सत्त्व, रज और तमोगुण भरे हैं।

चित्त में त्रैगुण्य का स्पष्ट दर्शन

चित्त में तो सत्त्व, रज और तमोगुण होते ही हैं। मनुष्य रात को सोता है। सुबह उठ जाता है, तो चित्त खूब प्रसन्न रहता है। उस समय स्मरण-शक्ति जाग्रत रहती है। चित्त शान्त है। कल

रात को किसी पर ज्यादा गुस्सा हुआ। रात को अच्छी तरह से नींद हो गयी, सुबह उठते ही कुछ उसका भान नहीं है। एक रात सन्तोष कर ले, तो चित्त पर बहुत अच्छा परिणाम होता है। चित्त एकदम शान्त हो जाता है।

सुबह सत्त्वगुण हुआ। फिर थोड़ी देर में भूख लगी, तो उसी चित्त में रजोगुण दाखिल हो जाता है। यह एक चित्त की बात है। भिन्न-भिन्न चित्तों की बात अलग ही है। भिन्न-भिन्न मनुष्य में भिन्न-भिन्न गुण कम-ज्यादा होते ही हैं। रहते हैं तो तीनों गुण, पर किसी में कोई गुण ज्यादा, तो कोई कम रहता है। चौबीस घण्टों के अन्दर उसका परिवर्तन होता ही रहता है। जैसे वातावरण में पारा कभी ऊपर उठता है, तो कभी नीचे गिरता है, वैसे ही चित्त पर इन तीनों गुणों का असर रहता है और ये गुण भी दिन में बदलते रहते हैं।

सुबह तो चित्त शान्त था। थोड़ी देर के बाद भूख लगी, तो रजोगुण आया। काम का समय आया, काम किया। फिर भूख लगी, तो खा लिया। अब थोड़ा आराम करने की इच्छा हुई, तो तमोगुण शुरू हो गया। दिनभर खूब काम हुआ, शरीर पूरा थक गया। शरीर और चित्त, दोनों थक गये। रात को तमोगुण के बिना चारा नहीं। तो प्राणी गहरी नींद में सो जाता है। गहरी शान्त निःस्वप्न निद्रा, यह गुण यद्यपि तमोगुण में आता है, फिर भी यह तमोगुण हेय नहीं। रोज सात-आठ घण्टे गहरी नींद निष्ठापूर्वक लेनी ही चाहिए।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को अवकाश देकर ही समाज-रचना करनी होगी। अवश्य ही जीवन में सत्त्वगुण के लिए काफी मौका रहे, फिर भी रजोगुण या तमोगुण का भी जीवन में एक स्थान है और वह रहना ही चाहिए, क्योंकि उसकी भी जीवन में आवश्यकता है। सृष्टिगत गुणों के बारे में जो स्थान हमारे जीवन में है, उसे हम टाल नहीं सकते। इस दृष्टि से मानव के लिए जो भी कुछ हमें करना है, उसके बारे में सोचना चाहिए।

तीनों गुणों का यथास्थान नियोजन

यद्यपि जीवन पर सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों का परिणाम होता है, फिर भी जीवन में जो पटरी बनेगी, वह सत्त्वगुण की होनी चाहिए। फिर इंजन रजोगुण का और डब्बे तमोगुण के हों, तो

गाड़ी ठीक तरह से चलेगी। अगर पटरी रजोगुण की रही और इंजन सत्त्वगुण का हुआ, तो भी वह गलत होगा, क्योंकि गाड़ी गलत रास्ते जाने का डर है। अगर पटरी तमोगुण की हो, तो भी इंजन गलत रास्ता पकड़ सकता है। अगर इंजन तमोगुण का हो, तो गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं। गति के लिए रजोगुण चाहिए, उसके बिना गति न आयेगी। लेकिन सामने टूटा हुआ पुल हो, और बेवकूफ इंजन दौड़ता ही रहे, तो क्या दशा होगी? नीचे गिरेगा।

रजोगुण जब मार्गदर्शक बनता है, तो उसमें खतरा होता है। इसलिए मार्गदर्शन के लिए सत्त्वगुण; गति के लिए रजोगुण; शान्ति, आराम या व्यवस्था के लिए तमोगुण चाहिए।

कडवा, जिला-तुमकूर (कर्नाटक)

1-11-‘57

गुण-विकास की प्रक्रिया :

६. चित्त-शमन की युक्ति

श्रम-संजात वारिणा (सूत्र 76)

वेगस्य शमनं स्वधर्मेण (सूत्र 78)

स्वाभाविकत्वात् (सूत्र 79)

त्रिगुणात्मक प्रकृति की उपपत्ति बताते हुए मैंने कहा था कि ये तीनों गुण उपयोगी हैं। जितने अंशों में वे प्राकृतिक हैं, उनमें कोई भी हेय नहीं, लेकिन उन्हें काबू में रखना चाहिए। उनका ठीक से उपयोग होने के लिए कुछ योजना बननी चाहिए। उस योजना के अनुसार काम किया जाय, तो हम उन पर काबू रख सकते हैं। तो इन तीनों गुणों में हरएक के लिए अलग-अलग तीन प्रकार की योजनाएँ करनी पड़ेंगी। मैंने साम्ययोग के सूत्रों में उसकी चर्चा की है।

शरीर-श्रम से तमोगुण का शोधन

तमोगुण के लिए जो योजना करनी है, उसका सूत्र है—'श्रम-संजात वारिणा।' ये शब्द तो मैंने पुराने शास्त्रों में से लिये हैं, परन्तु सूत्र नया बनाया है। इसका अर्थ है, शरीर-परिश्रम से—शरीर से जो वारि यानी पानी या पसीना निकलता है, उस पसीने से—प्रकृति के तमोगुण का शोधन करना होगा। प्रकृति में जो तमोगुण है, उस पर हम शरीर-परिश्रम द्वारा ही काबू प्राप्त कर सकेंगे। हम जानते ही हैं कि सारी दुनिया में अन्न आदि जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ हैं, उनका उत्पादन श्रम द्वारा ही होता है। आजकल उसमें औजारों से मदद मिलती है, जिससे परिश्रम में बहुत-सी सहूलियत हो जाती है। फिर भी उत्पादन के लिए शरीर-श्रम करना ही पड़ता है। आज उसके लिए किसी को बहुत ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है, तो दूसरे किसी को परिश्रम के लिए मौका ही नहीं मिलता। जिन्हें बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है, उन पर उसका बुरा असर होता है। फिर जिन्हें शरीर-परिश्रम का मौका ही नहीं मिलता, उन पर भी उसके दूसरे प्रकार के दुष्परिणाम होते हैं। इस तरह दोनों प्रकार के दोनों लोगों का हर प्रकार से नुकसान ही होता है। इसलिए शरीर-श्रम द्वारा शरीर से पसीना बहाने का नियम जीवन के लिए जरूरी हो जाता है।

मैंने जो पैदल-यात्रा का नियम रखा है, उसके कई कारण हैं। किन्तु उनमें एक मुख्य कारण यह है कि इसके द्वारा शरीर-श्रम हो जाता है। कई लोग मेरे प्रति दयाभाव से प्रेरित होकर सूचना देते हैं कि "बाबा, आप एक जगह एक-दो महीने बैठकर आराम करें। आपका काम हम ही लोग कर लेंगे।" लेकिन मैं जवाब देता हूँ, "आप लोगों को काम करने के लिए क्या बाबा को बैठने की जरूरत है? आप काम कीजिये। अगर हम इस शरीर को आराम देने की सोचेंगे, तो वह निकम्मा बन जायेगा। फिर वह कहेगा कि अब यह बासठ साल का हो गया है, और कितना घूमेगा ? दूसरे जवान लोग हैं, वे काम करें। लेकिन आज उसे कार्यक्षम करने का यही मार्ग है कि उसे बैठने न दिया जाय।"

शरीर-श्रम व्रतरूप में :

गांधीजी ने हमें यह शरीर-श्रम का व्रत सिखाया। यह व्रत नया नहीं है। हमारे खयाल में यह बात रही है कि तमोगुण के नियंत्रण के लिए शरीर-परिश्रम की आवश्यकता है। लेकिन आज उत्पादन के लिए श्रम पर जितना जोर दिया जाता है, उतना पुराने जमाने में नहीं दिया जाता था। इसका एक कारण यह हो सकता है कि उस समय जनसंख्या कम थी। स्वभावतः उत्पादन वैसे ही पर्याप्त परिमाण में हो जाता था। आज की जैसी आर्थिक तंगी उस समय नहीं थी। अतएव उस पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता था। फिर भी उस जमाने के सोचनेवाले ऋषि शरीर-परिश्रम द्वारा उत्पादन के महत्त्व को पहचानते थे और उसकी सूचनाएँ भी उन्होंने दी थीं। 'ऋषि' और 'ऋषभ' ये दोनों शब्द एक धातु से बने हैं। 'ऋषभ' यानी जमीन को जोतनेवाला बैल और 'ऋषि' यानी बैल के पीछे-पीछे चलनेवाला किसान। ऋषि लोग मानते थे कि हरएक के लिए खेती पर श्रम करना अनिवार्य है। वैदिक जमाने में उन्होंने समाज के पाँच विभाग बनाये थे। हर विभाग के मनुष्यों के अपने अलग-अलग धन्धे थे। लेकिन सबके लिए खेती पर श्रम करना आवश्यक माना जाता था। ऐसा माना जाता था कि हर आदमी अपना धन्धा करते हुए उसके साथ-साथ खेती का काम करेगा। इसलिए उन्हें 'पंच कृष्टि:' यानी पाँच किसान कहा गया है। फिर भी उस जमाने में उत्पादक शरीर-परिश्रम पर बहुत ज्यादा जोर नहीं दिया जाता था और उसे व्रत का स्वरूप नहीं

मिला था। कारण, उस समय आर्थिक तंगी नहीं थी। लेकिन अब अर्थशास्त्र का दबाव आ पड़ा है, इसलिए यह सोचा जा रहा है कि हरएक मनुष्य को उत्पादक श्रम में हिस्सा लेना चाहिए।

यहाँ हम शरीर-परिश्रम को तमोगुण के नियंत्रण के लिए साधन के रूप में सोच रहे हैं। समाज में शरीर-परिश्रम की आवश्यकता है, इसलिए सहज ही स्वाभाविक तौर पर समाज उसका नियंत्रण कर लेता है। दिनभर हम मेहनत करते हैं, तो अच्छी थकान और रात को गहरी नींद आती है। श्रम के निमित्त जीवन को व्यवस्थित करने का एक साधन भी मिल जाता है। उत्पादन के निमित्त शरीर-श्रम का साधन न होता, तो अधिकतर आध्यात्मिक दृष्टि लोग समझ न पाते। गहरे आध्यात्मिक विचार कितने लोग समझ सकते हैं? लेकिन श्रम के बिना चलता नहीं। इसलिए साधारण किसान सबेरे ही उठ जाता है और दिनभर श्रम करता है और फिर जल्दी सोता भी है। इस तरह किसान को योगी जैसा ही व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसके लिए शरीर-श्रम एक जीवन-विषय है। इसलिए उसके जीवन में योग स्वाभाविक ही आ जाता है।

हमने सुझाया है कि देहात में काम करनेवाला हर कार्यकर्ता, चाहे उसका काम दफ्तर में ही क्यों न हो, रोज घण्टा, दो घण्टा शरीर-श्रम अवश्य ही करे। वैसे किसी विषय में अपने को भले ही बाँध न ले, परन्तु सहज ही कुछ-न-कुछ श्रम कर ले, जिससे शरीर से पसीना बह जाय। शरीर-श्रम के लिए बेकार व्यायाम करने के बदले उत्पादक श्रम किया जाय, तो वह लाभदायक होगा। इस प्रकार का श्रम, यदि वैसी प्रेरणा हो ते, ब्रह्मचर्य की साधना में भी मददगार होता है। खुली हवा में काम करने से बहुत मदद होती है। हमारी पदयात्रा में लोग कृपा की दृष्टि से फासला कम रखते हैं। मगर हम चाहते हैं कि फासला दस-बारह मील का रखा जाय, तो अधिक लाभदायक होगा। उससे चिन्तन में मदद मिलेगी । पदयात्रा में शरीर से पसीना तो निकलना चाहिए। यह तमोगुण के लिए योजना हो गयी। अब रजोगुण के लिए क्या योजना है, यह देखें।

मन-इन्द्रियों का वेग रोकना आवश्यक

रजोगुण के लिए सूत्र है—**'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण'।** मनुष्य के मन तथा इन्द्रियों में वेग होता है, यह रजोगुण का परिणाम है। अगर इस वेग का शमन न हुआ, तो उसके परिणामस्वरूप

मानसिक क्षोभ पैदा होता है। इसलिए मनुष्य इस वेग के शमन के लिए अनेक प्रकार के काम कर लेता है। मनुष्य के व्यसन और गलत आचरण भी इसी कारण होते हैं। इसलिए इन्द्रियों के स्वाभाविक वेग का शमन होना जरूरी है।

दूसरा सूत्र है—**'स्वाभाविकत्वात्'।** इन्द्रियों का वेग स्वाभाविक है, उसमें शिकायत करने का कोई कारण नहीं है। जैसे अच्छे घोड़े का लक्षण ही यह होता है कि वह जोर से दौड़ेगा, वैसे ही अच्छे मन का भी लक्षण यही है कि वह तेजी से दौड़ता है। घोड़े के दौड़ने में हम इतना ही चाहेंगे कि वह ठीक रास्ते पर दौड़े। वैसे ही मन के बारे में भी हम चाहेंगे कि वह ठीक रास्ते पर चले। इसी तरह शरीर तथा इन्द्रियों के वेग के बारे में है। उन्हें शान्त करने के लिए उनका शमन होना चाहिए। वह स्वधर्म से होता है। यदि हम स्वधर्मरूपी मार्ग का उपयोग करते हैं, तो एक राह मिल जाती है और इन्द्रियों के वेग का शमन सहज ही हो जाता है। वेग इन्द्रियों के लिए स्वाभाविक है। उसी तरह स्वधर्म भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसलिए **'स्वाभाविकत्वात्'** सूत्र है।

स्वधर्म का अर्थ

स्वधर्म का अर्थ जरा समझ लेना चाहिए। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि स्वधर्म से अभिप्रेत नहीं हैं। इनके लिए 'धर्म' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। ये धर्म तो उपासना के प्रकार हैं। 'स्वधर्म' का अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतंत्र कर्तव्य। वैसा स्वधर्म यानी अपना विशेष कर्तव्य, हर मनुष्य का अलग-अलग होता है। परन्तु मनुष्य समाज का अंग है। इसलिए हम कहते हैं कि हर मनुष्य अपनी सेवा समाज को समर्पित करे। लेकिन हर मनुष्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। उन विशेषताओं का समुचित विकास करके ही समाज को सेवा समर्पित करनी चाहिए।

मान लीजिये, किसी को चित्रकला का ज्ञान है। तो उसे उसको विकसित करना और उस काम को समाज की सेवा में लगाना चाहिए। कोई संगीतज्ञ है, तो उसे भक्त बनना और अपने कण्ठ की कला का उपयोग समाज के लिए करना चाहिए। समाज को अपनी सेवाएँ अर्पण करने से मनुष्य की विशेषताएँ खण्डित नहीं, बल्कि सार्थक ही होती हैं। समाज को विविध प्रकार की सेवाओं की जरूरत होती है और उनके लिए विविध शक्तियाँ चाहिए। इसलिए मनुष्यों की विविध

प्रकार की शक्तियों को एक ही साँचे में ढालकर एक ही प्रकार की बनाने की कोई जरूरत नहीं। मेरे विशेष गुण, मेरा विशेष ज्ञान, मुझे प्राप्त हुई विशेष परिस्थिति के कारण मेरा जो धर्म या कर्तव्य बनता है, वही मेरा स्वधर्म है। इस तरह स्वधर्म स्वाभाविक होता है और उसका समर्पण समाज को होना चाहिए।

ध्यान से मन को बलात् न रोकें

कुछ लोग अपने मन तथा इन्द्रियों के वेग के शमन के लिए समाधि लगाने का, ध्यानादि करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु वे शिकायत करते हैं कि ध्यान तो हम लगाते हैं, परन्तु मन दौड़ता रहता है। वे स्वयं उसके काबू में हो जाते हैं। इसमें मन का दोष नहीं। नाहक उसे न दौड़ने की आज्ञा क्यों दी जाय? उसे दौड़ने के लिए ठीक राह बता देनी चाहिए। फिर उसे दौड़ने दो। जैसे ये आँखें हैं, इन्हें कहें कि यही देखो, दूसरी चीज मत देखो। कानों से कहें, यही सुनें, दूसरा कुछ न सुनें। इस तरह इच्द्रियों का उपयोग ठीक ढंग से होता है। वैसे ही मन को अगर ठीक राह मिले, तो उसका उपयोग लाभदायक होगा। मन को काबू में लाने के लिए ध्यान में बैठना गलत है। उसे हम जबर्दस्ती बेकार बैठाना चाहते हैं, इसलिए वह दौड़ता है। हम वैसा न करते, तो वह न दौड़ता। इसलिए उसे जबर्दस्ती बैठा रखने की कोशिश करना गलत है।

कुछ लोगों का विचार है कि ध्यान में बैठने से मन उन्नत होता है और मनुष्य का विकास होता है। लेकिन यह खयाल गलत है। ध्यान भी एक शक्ति है। कुछ लोग कहते हैं कि चित्र खींचने में मन एकाग्र होता है। कुछ कहते हैं कि मन गणित में एकाग्र हो जाता है। चित्त दौड़ता है, इसका मतलब यही हुआ कि मन को बेकार बैठाने की कोशिश की जाती है, इसलिए वह बगावत करता है। अतः उसे जिस किसी में रुचि हो, जैसे चित्र खींचने में, गणित में, संगीत या जिस विषय में वह एकाग्र हो सके, उस जरूरी विषय के अध्ययन में उसे लगाना चाहिए। तभी वह शान्त होगा। वैसे हम देखते हैं कि मन कई विषयों में, यहाँ तक कि खाने के काम में भी, तन्मय हो सकता है। अच्छी भूख लगी हो, तो भोजन मिलते ही उसमें मन बिलकुल एकाग्र हो जाता है। मन में विशेष क्षोभ न

हो, तो उस वक्त चित्त इधर-उधर दौड़ता नहीं। यदि क्षोभ होता है, तो भोजन के लिए रुचि नहीं होती।

चित्त को आलम्बन आवश्यक

इसका अर्थ यह हुआ कि चित्त के लिए इस प्रकार का विषय दे दिया जाय, जिसमें उसका ध्यान लग सके। चित्त को निरालम्बन काम में क्यों लगाया जाय? उसे आलम्बन का काम देना चाहिए। जो काम जरूरी है, वह क्यों नहीं देते? एक ही बेकार काम देकर आसन लगाने से क्या मतलब है? जब मनुष्य ने दिनभर सुन्दर काम किया हो, काम करते-करते थक गया हो, उस काम में उसका चित्त एकाग्र हुआ हो, चित्त पर कोई बोझ न हो, तो रात को बिस्तर पर पड़ते ही चित्त अपने-आप एकाग्र हो जाता है। उसे दौड़ने की इच्छा नहीं होती। ऐसी हालत में क्षणभर में ही नींद आ जाती है।

शास्त्र में कहा है : **'निद्रा समाधि-स्थितिः।'** जो निष्काम कर्मयोग में लगा रहता है, उसकी निद्रा समाधि की ही स्थिति होती है। हाँ, वह निद्रा निःस्वप्न होनी चाहिए। उसमें अगर तरह-तरह के विचार आते हों, तो समझना चाहिए कि वह गलत है। तरह-तरह के स्वप्न देखते रहते हों, तो वह नींद नहीं, सोने का ढोंग होगा। इस वास्ते नींद निःस्वप्न ही आनी चाहिए। नींद निःस्वप्न नहीं होती है, इसके कई कारण हैं। इनमें से बाह्य कारणों को छोड़ दिया जाय, तो एक मानसिक कारण यह है कि नींद के समय चित्त जागता रहता है। वह क्यों जागता है? इसलिए कि हमारी जाग्रति के समय वह सोता है। इसी कारण हमारे सोने के समय वह जागने लगता है। बहुत-से लोग ऐसे ही हैं, जो मेरे खयाल में 24 घण्टे में 20 घण्टे सोते ही रहते हैं। हम तो सचमुच जागते रहते हैं, परन्तु हमारा मन भी जाग्रत है क्या? ऐसी जाग्रत मन की अवस्था कम ही रहती है। उसकी परिपूर्ण जाग्रति नहीं होती। इसलिए उसके प्रतिक्रियास्वरूप जब हम सोते हैं, तब वह जागने जैसा लगता है। होना तो यही चाहिए कि हमारे सोते समय वह न जागे और जाग्रति में वह कसकर जागे।

स्फूर्तिहीन जाग्रति से सोना अच्छा

कितने ही लोग दिन में न सोने का निश्चय करते हैं। लेकिन मैंने देखा है कि बैठे-बैठे ही वे सोने लगते हैं। एक भाई इस तरह दिन में न सोने की कोशिश करते थे। परिणाम यह होता था कि दिनभर सुस्ती रहती थी। उन्हें मैंने दिन में आधा घण्टा सोने की आदत डालने के लिए लिखा। उन्होंने वैसा किया और बाद में लिखा कि उससे उनकी उन्नति हुई। उनका चित्त बहुत ही प्रसन्न रहने लगा। अकसर हमारी जाग्रति में जड़ता, सुस्ती होती है, चित्त जड़ बनता है। इसलिए काम ठीक तरह से बनता ही नहीं। ऐसी स्फूर्तिहीन जाग्रति से सोना अच्छा ही है।

अब मेरी आध्यात्मिक प्रगति हो रही है। क्योंकि इन दिनों मैं दिन में दो बार सोने लगा हूँ। आध्यात्मिक प्रगति सोने से किस तरह हो सकती है? यह तो आश्चर्यकारक लगेगा। क्योंकि न सोने में या निद्रा को कम करने में ही आध्यात्मिक प्रगति मानी गयी है। लेकिन दिन में दो बार सोना लाभदायक ही हुआ है। वैसे तो मैं रात को सवा आठ बजे सो जाता हूँ और सुबह तीन बजे उठता हूँ। पहले मैं दिन में एक बार सोता था। अब सुबह पद-यात्रा के बाद स्नानादि समाप्त करके 40-50 मिनट सो जाता हूँ। फिर दोपहर को भोजन के बाद आधा घण्टा सोता हूँ। इसका परिणाम यह देखता हूँ कि इससे मेरी परिपूर्ण जाग्रति रहती है। रात को गहरी नींद के बाद सुबह उठते समय जिस परिपूर्ण जाग्रति का अनुभव आता है, कोई वजह नहीं कि वह दिनभर न रहे।

डॉक्टर जिउस ने लिखा है कि कुत्ता कभी लगातार 10-12 घण्टे तक सोता नहीं। वह थोड़ी देर सोता है, फिर जागकर इधर-उधर घूमता-फिरता है, फिर सोता है। इस तरह उसका सोना और जागना चलता रहता है। इससे वह सतत उत्साही रहता है। तो हम भी वैसा क्यों न करें? उसका थोड़ा-सा प्रयोग मैं अब कर रहा हूँ। देख रहा हूँ कि उससे बुद्धि बहुत जाग्रत रहती है। नये-नये विचार सूझते रहते हैं।

चित्त को सहज धर्म में लगायें

तात्पर्य यह है कि चित्त को सहज स्वधर्म में लगाना चाहिए। उसे नाहक रोकने की कोशिश करना ठीक नहीं। वह खुद ही रुक जाय, तो ठीक ही है।

गीता में एक श्लोक आता है—**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'**। मन को आत्मा के अधीन कर किसी भी विषय की चिन्ता न करनी चाहिए। श्रीधरस्वामी ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है कि **'न किंचिदपि चिन्तयेत्'** यानी आत्मा का भी ध्यान न करना चाहिए—**'आत्मध्यानादपि निवर्तयेत्'। 'न किंचिदपि'** से भी पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं होता, इसीलिए श्रीधरस्वामी को इतना लिखना पड़ा। शंकराचार्य ने तो इसे योग की परम विधि कहा है—**'एष योगस्य परमो विधिः'** | फिर भी चित्त को किसी काम में लगाने से ही वह एकाग्र हो पाता है।

लोग कहते हैं कि ध्यान लगाना चाहिए। परन्तु ध्यान लगाना क्यों? वह तो लग जाना चाहिए। जब उसकी जरूरत होती है, तब मन अपने-आप ही बैठ जाता है। उसे जबरदस्ती रोकने की जरूरत नहीं होती। दिनभर स्वधर्माचरण के बाद दिन के अन्त में आत्म-परीक्षण की जरूरत तो होती ही है। उस समय उसके लिए हम बैठते हैं, तो चित्त स्वयं एकाग्र और शान्त हो जाता है। फिर वह दौड़ना चाहता ही नहीं। परन्तु जो स्वधर्माचरण नहीं करता, उसके लिए आत्म-परीक्षण की आवश्यकता का सवाल उठता ही नहीं। वह कितनी भी कोशिश करे, उसके चित्त का शमन हो नहीं सकता।

इस तरह चित्त के शमन की बड़ी भारी युक्ति **'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण'** और **'स्वाभाविकत्वात्'** इन दो सूत्रों में बतायी गयी है।

कल्लुर, जिला-तुमकूर (कर्नाटक)

2-11-'57

गुण-विकास की प्रक्रिया :

७. प्रमाद और अहंकार का निरसन

यन्ति प्रमादं अतंद्राः (सूत्र 77)

तमोगुण के निरसन का सर्वोत्तम साधन पसीना बहाना ही है—**'श्रम-संजात-वारिणा'**। इसके परिणामस्वरूप रात को अच्छी नींद आयेगी। ऐसी नींद, जिसकी गिनती समाधि में हो सकती है। वही तमोगुण का सर्वोत्तम रूप है।

रजोगुण को भी हम टाल नहीं सकते। उसके आकर्षण से जीवन में वेग मिलता है। पर वेग में भी भय रहता है। इसलिए उसका भी शमन होना चाहिए। जैसे भाप नियंत्रित करने पर उससे शक्ति पैदा होती है, वैसे ही रजोगुण से भी शक्ति पैदा हो सकती है। भाप को खुला छोड़ने पर उससे कुछ नहीं बनता। वैसे ही रजोगुण के वेग का शमन न होने पर उसे वैसे ही खुला छोड़ देते हैं, पर वह खतरा पैदा करता है। इसलिए वेग-शमन का सूत्र है—**'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण'।** स्वधर्म में वेग का शमन होता है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अपने-आपको और अपनी इन्द्रियों को सेवा-कार्य में लगा दें, ताकि वेग का सही दिशा में उपयोग होकर उसका शमन हो सके। यह धर्म स्वाभाविक ही है। जैसे वेग स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही ऐहिक और पारमार्थिक जीवन के लिए स्वधर्म भी स्वाभाविक होता है। इसलिए इसका दूसरा सूत्र है—**'स्वाभाविकत्वात्'**।

स्वधर्म-पालन करने में रजोगुण के वेग का शमन तो होता है, परन्तु उससे प्रमाद भी हो जाता है। असावधानी के कारण उसका होना स्वाभाविक भी है। फिर भी उस प्रमाद से बचना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है। उसके लिए हमने सूत्र बनाया है—**'यन्ति प्रमादं अतंद्राः।** प्रमाद को बहुत साधना के साथ टालना होता है। उसके लिए मनुष्य को एक विशेष साधना करनी पड़ती है। रजोगुण का वेग शमन होने से बहुत बार तमोगुण का हमला हो जाता है। तब मनुष्य का मन ढीला पड़ जाता है, वह प्रमाद कर बैठता है। अनवधान से प्रमाद

हो जाता है। इस तरह का प्रमाद अपने देश में बहुत होता है। कोई कुछ वादा करता है और उसे पूरा नहीं कर पाता, तो उसमें उसे कुछ कष्ट पहुँचता ही नहीं। दूसरे देश में शिष्टाचार के नाम से इस तरह का प्रमाद नहीं होता, लेकिन अपने देश में तो वह स्वाभाविक या सहज ही बन गया है। किसी ने आपसे किसी तारीख को आने का वादा किया, लेकिन नहीं आ सका, तो उसमें उसे कुछ त्रुटि या अपराध लगता ही नहीं। अव्यवस्था, अनियमितता, भूल जाना आदि जड़ता हममें आ गयी है कि उससे हमें कोई कष्ट ही नहीं पहुँचता। बिलकुल निर्दोष भाव से कह देते हैं—'नहीं जा सका'। 'भूल गया, तो क्या हुआ? सामान्य विस्मरण हो गया!'

प्रमाद—भयंकर शत्रु

परन्तु विस्मरण बहुत बड़ा अपराध है। वह जड़ता का लक्षण है। बुद्ध भगवान् ने कहा है—**'अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदम्'।** अप्रमाद अमृत का और प्रमाद मृत्यु का स्थान है। महाभारत में भी यही आया है। मेरा खयाल है, यह मंत्र मूलतः महाभारत का है।

हमारे सर्वोदय-कार्यकर्ताओं के जीवन में भी बहुत कमी रह जाती है। प्रमाद के कारण हमारे जीवन में प्रगति नहीं होती। हम रुँध जाते हैं। धर्म और आध्यात्मिक साधना में तो प्रमाद मारक है ही, दैनंदिन साधारण व्यवहार, संसार के हरएक पहलू, व्यापार, व्यवहार और सेना में भी वह बड़ा हानिकारक होता है। वह तो हमारा सर्वांगीण शत्रु है। ऐसा कोई भी काम नहीं दीखता, जिसमें प्रमाद चल सके। खेलने में भी प्रमाद नहीं चल सकता। इसलिए साधक को **'यन्ति प्रमादं अतंद्राः'** सूत्र का पूरा भान होना चाहिए। तंद्रारहित होकर प्रमाद को मिटा देना चाहिए।

भगवान् भी तंद्रा से बचते हैं

'तंद्रा' शब्द वेद का है। यह सूत्र ऋग्वेद के एक मंत्र का एक अंश है। इस शब्द की उत्पत्ति कहाँ से हुई है, कहा नहीं जा सकता। भगवान् ने गीता में भी यही शब्द कहा है—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्मणि॥
यदि हाहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥'

—मुझे तो कुछ करना ही नहीं है, फिर भी कार्य करता हूँ, तो अतंद्रित होकर। क्योंकि यदि मैं खुद यह न करूँ, तो ये लोग भी नीति-भ्रष्ट, विचार-भ्रष्ट हो जायेंगे और सृष्टि का विनाश होगा। इसलिए लोगों की दृष्टि से अतंद्रित होकर मैं काम करता हूँ।' आखिर भगवान को काम करके क्या प्राप्त करना था? मनुष्य को दो प्रेरणाएँ होती हैं, जिनके कारण वह काम करता है। एक है कर्तव्य-भावना, जो पारमार्थिक लब्धि के लिए होती है और दूसरी है—प्राप्तव्य-भावना, जो प्रापंचिक लब्धि के लिए होती है। लेकिन भगवान् को तो दो में से किसी की भी प्राप्ति करनी थी नहीं। फिर भी उन्होंने कहा—'मैं अतंद्रित होकर काम करता हूँ।'

'निद्रा' और 'तंद्रा' में अन्तर है। आलस्ययुक्त निद्रा 'तंद्रा' है और स्वप्नरहित विश्रांति ही 'निद्रा' है। निद्रा में स्वप्ण आ गया, तो उसमें मानसिक विश्रांति नहीं होती। स्वप्न आते हैं और उसमें ही ज्यादा समय बीत जाता है। यह हानिकारक है। निद्रा मर्यादा के अन्दर अच्छी हो सकती है। लेकिन वह स्वप्नरहित होनी चाहिए।

गांधीजी भी अतंद्रित कार्यकर्ता

भगवान् ने कहा—'मैं अतंद्रित होकर काम करता हूँ'। अकसर ऐसी भावना रखकर काम करनेवाले लोग नहीं मिलते। पर हमारे यहाँ प्राचीन काल से लेकर आज तक ऐसे महात्मा होते रहे हैं, जिन्हें अपने लिए और पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी प्राप्त नहीं करना था, फिर भी वे काम करते थे। ऐसे महात्माओं में मैं कृष्ण भगवान् का नाम लेता हूँ। महात्मा गांधी भी इसी प्रकार के आदर्श पुरुष थे। हर काम में वे प्रमाद-शून्य और अतंद्रित होकर लगे रहते थे। वे ऐसा मानते और कहते थे कि 'भले ही मुझे नहीं चाहिए, मुझे जरूरत नहीं; परन्तु समाज को उसकी जरूरत है, इसलिए मुझे करना जरूरी है। अगर न करूँ, तो समाज गलत रास्ते पर जायेगा।' ऐसा मानकर वे खुद काम करने लग जाते थे। उनमें कारुण्य-भावना थी। कारुण्ययुक्त और वात्सल्ययुक्त जो महात्मा होते हैं, वे ऐसा ही करते हैं।

प्रकट और अप्रकट कारुणिक महात्मा

इसके अलावा कुछ ज्ञानी होते हैं। तत्त्वज्ञान में वे आगे बढ़ते जाते हैं। उनमें करुणा छिपी रहती है। वे एकांत में ध्यान-धारणा करते हैं, लोगों की कोई चिन्ता नहीं करते। उसमें उन्हें तत्त्व-दर्शन होता है। फिर आगे उन्हें जो दर्शन होता है, उसके प्रचार में निकल पड़ते हैं। सूत्ररूप में वे उसे समाज के सामने रखते हैं। परन्तु महात्माजी वैसे नहीं थे। वे ज्ञानी तो थे ही, पर वे 'लेबोरेटरी' में प्रयोग करनेवाले महात्मा नहीं थे। जीवन के तत्त्व खोजने के लिए एकांत में जानेवाले महात्माओं का भी समाज पर बड़ा उपकार है ही। उनके प्रकट-ज्ञान से समाज को काफी लाभ होता है। इसमें करुणा छिपी रहती है। लेकिन करुणा से या वात्सल्य से जो परिणाम होता है, वह इससे भिन्न है। इसके अलावा दूसरे जो महात्मा होते हैं, उनमें ज्ञान छिपा रहता है। लेकिन प्रकट होती है, करुणा।

दूसरे प्रकार का उदाहरण है – महात्मा गांधी। करुणा और वात्सल्य से प्रेरित होकर जो महात्मा जीवन-तत्त्व या आत्मदर्शन करने का प्रयत्न करते गये, उनमें महात्मा गांधी हैं। कोई समझता था कि वे राजनीति का काम करते हैं। कोई कहता था कि वे तो आश्रम चलाते हैं। इस तरह साधारण से साधारण काम वे करते थे। हर कोई उन्हें अपना ही आदमी समझता था, क्योंकि साधारण लोगों से वे उन्हीं की भूमिका पर बात करते थे। किसी को पेट दर्द होता, तो गांधीजी उसके पास जाकर इलाज के बारे में पूछताछ करते थे। जैसे माँ ही बच्चे के पास पहुँचती हो। किसी पति की पत्नी के साथ पटती न हो, तो पति आकर उनसे मिलता और अपना किस्सा सुनाता। इसका नाहक उन पर भार पड़ता था, तो भी वे ऐसे महात्मा थे कि कुछ परवाह न करते थे। अपने सारे कामों में से समय निकाल कर कहीं इलाज की बात में, तो कहीं घर-गृहस्थी की बात में लोगों को उचित सलाह देते थे। माँ की तरह वे सोचते थे, इसलिए लोग सीधे उनके पास जाते थे। कभी-कभी मुझे भी ऐसे लोगों के साथ मुलाकात करनी पड़ती थी। मैं उनसे कहता— 'गांधीजी के पास पहुँचनेवाले न हो, तो मैं बताऊँगा। उधर जानेवाले हो, तो फिर वहीं जाओ। उनका भी समय लोगे और हमारा भी।' बापू कितने ही गम्भीर काम में क्यों न हों, वे इन कामों के लिए समय देते थे।

विचारपूर्वक सत्य के प्रयोगकर्ता

बापूजी में ज्ञान छिपा हुआ था और करुणा प्रकट रूप में थी। वे कहते—'मुझे सत्य का दर्शन नहीं हुआ है।‘ सत्य की खोज में ही वे हर काम करते और कहते कि 'मैं दर्शन से दूर हूँ। कोशिश कर रहा हूँ। सिर्फ कभी-कभी उसकी झाँकी मिल जाती है।‘ मैं मानता हूँ कि उनका कहना ठीक था। वे सही बोलते थे। फिर भी वे दर्शन के करीब पहुँच चुके थे। वे अपने हाथ से जरा भी प्रमाद न हो, इस खयाल से काम करते थे। छोटी-से-छोटी चीज में भी उपेक्षा न हो, इसी विचार से वे काम करते थे। कभी-कभी वे ऐसे खतरनाक प्रयोग करते थे कि जिनका अनुकरण करने से मनुष्य गलत रास्ते पर जा सकता है। लोगों के पूछने पर वे जवाब देते—‘मैं सत्य का प्रयोग करता हूँ।‘ एक तरह से इस तरह खतरनाक प्रयोगों से समाज को चकित करते थे, तो दूसरी तरफ से अपने जीवन में हर किसी के लिए जगह होने का भास भी करवाते थे। उनके जीवन में कहीं करुणा प्रकट होती थी, तो कहीं ज्ञान और कहीं सत्यनिष्ठा। महापुरुषों में कोई ज्ञान-प्रधान होते हैं, कोई करुणा-प्रधान। किसी-किसी में ये दोनों बातें बीच-बीच में प्रकट होती हैं। गांधीजी इसी प्रकार की मिसाल हैं। स्त्री और पुरुष, दोनों को वे समान मानते थे और पूर्ण समत्व-बुद्धि से ही बर्ताव करते थे। पर कुछ लोगों को उनके समत्वयोग का परिचय नहीं होता था। वे स्वयं कुशल प्रयोगकर्ता थे। सत्याग्रह के जमाने में उनके चमत्कारी प्रयोगों का हमें दर्शन हुआ। सोच-विचार करके वे सत्य का प्रयोग पहले अपने पर और बाद में समाज में करते थे। इसीलिए वे प्रमाद को भगा सके थे।

रजोगुण में भी प्रमाद का खतरा

‘यन्ति प्रमादं अतंद्राः' यह ऋग्वेद के मंत्र का एक अंश ज्यों का त्यों सूत्र-रूप में यहाँ दिया गया है। 'यन्ति’ ‘यम्' धातु का रूप है। 'यम्’ यानी संयम करना, नियमन करना या भगाना। तमोगुण के बाद यह सूत्र आता है, लेकिन हमने रजोगुण के बाद इसे लिया है। क्योंकि स्वधर्माचरण से रजोगुण का वेग तो शान्त होता है, पर उसमें भी प्रमाद हुआ करता है। तमोगुण में वेग नहीं

होता, उसका एक प्रवाह होता है। इसलिए तमोगुण वेग को खण्डित करता है। यों तमोगुण का प्रभाव कैसे दूर कर सकते हैं, यह हम लोगों ने देखा।

इस प्रकार हमारे चार सूत्र हुए—**'श्रम-संजात-वारिणा'** और **'यन्ति प्रमादं अतंद्राः'** ये दो सूत्र तमोगुण के लिए हैं और **'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण'** तथा **'स्वाभाविकत्वात्'** ये दो सूत्र रजोगुण के लिए हैं। मूल सूत्र है—**'प्रकृतिः शोध्या'**। प्रकृति का शोधन करने के लिए तीन गुणों का शोधन करना होता है। उनमें से दो गुण हमने देखे।

देह में विकृति

अब तीसरा गुण आता है सत्त्वगुण। यह बहुत बड़ा कीमती गुण माना जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तमोगुण और रजोगुण हेय माने जाते हैं। ये प्राकृतिक गुण हैं, परन्तु मनुष्य के पास प्राकृतिक रूप में नहीं आते, विकृत रूप में ही आते हैं। हम पानी पीते हैं। हमारी देह में वह जाता है; तो उसका रक्त या मूत्र बनता है, यानी वह शुद्ध रूप में नहीं रहता। वैसे ही वायु की हालत है। हम हवा लेते हैं। वह भी विकृत रूप लेती है। हम केले खाते हैं, परन्तु केले केले के रूप में नहीं रहते। जो कुछ भी हम प्राकृतिक रूप में लेते हैं, वह वैसा का वैसा ही बाहर नहीं आता। विकृत होकर आता है। इसी तरह ये दोनों गुण प्राकृतिक गुणों के रूप में देह में नहीं रहते।

आध्यात्मिक दृष्टि से इन तीनों गुणों का अलग-अलग स्थान है। उनमें रजोगुण और तमोगुण को हेय मानना पड़ता है, क्योंकि उनका खिंचाव नीचे की तरफ रहता है। देह के अन्दर दाखिल होते हैं, तो वे विकृत रूप में रहते हैं। गीता में कहा है—**'पुण्यो गंधः पृथिव्याम्'**—'पृथ्वी में जो पुण्य गंध है, वह मैं हूँ।' शंकराचार्य भाष्य करते हैं—भौतिक सृष्टि में वस्तु मूलरूप में होती है। उसका वह स्वरूप शुद्ध होता है। पानी में शुद्ध रस है, पर मनुष्य जब उसे आत्मसात् करता है, तब वह विकृत हो जाता है। उसी तरह भौतिक सृष्टि में रजोगुण और तमोगुण शुद्ध रूप में हैं, लेकिन जब वे मनुष्य-देह में आते हैं, तो शुद्ध नहीं रहते। पंचमहाभूतों में जब तक गुण कायम हैं, तब तक ठीक हैं; क्योंकि शुद्ध हैं। परन्तु मनुष्य जब आत्मसात् करता है तो वे विकृत हो जाते हैं।

देहगत तमोगुण टालने लायक है। परन्तु रजोगुण की बात जरा महत्त्व की है, क्योंकि उसका नियमन कठिन है।

सत्त्वगुण का लक्षण

सत्त्वगुण का लक्षण क्या है? सत्त्वगुण का लक्षण दोहरा है। एक लक्षण है ज्ञान। ज्ञान की जो शक्ति है, वह जड़ पदार्थ में नहीं दीखती। ज्ञान की प्रेरणा जड़ से होती है, पर साक्षात् ज्ञान-क्रिया कोई जड़ वस्तु करती होगी, यह समझना गलत है। चेतन के साथ वह क्रिया आती है। ज्ञान चेतन का गुण है, ऐसा भास होता है; लेकिन वह सत्त्वगुण का अंश है। ज्ञान गुणवाचक नहीं, वह स्वरूप है। आत्मा को ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं ज्ञानवान है। इसलिए ज्ञानी को यह भास नहीं होता कि मैं ज्ञानी हूँ, अगर उसे वैसा भास हुआ, तो वह सत्त्वगुण का अहंकार माना जायेगा। ज्ञानी को तो यह भास होना चाहिए कि मैं ज्ञान का संग्रह कर रहा हूँ, ज्ञानस्वरूप नहीं हूँ, दूसरों से मुझे बहुत कम ज्ञान है। जिन्हें लगता है कि मैं ज्ञानी हूँ, दूसरों को जो ज्ञान है वह भी मुझे मालूम है, मैंने दूसरों से ज्यादा ज्ञान हासिल किया है, वे सचमुच ज्ञानी नहीं। सत्त्वगुण का अहंकार नहीं होता। यदि अहंकार हुआ, तो तमोगुण आ जाता है, बल्कि वह तमोगुण से भी बदतर है।

परन्तु सत्त्वगुण प्रकृति का ही अंश है। ज्ञान का भी बोझ होता है। जिस चीज का आत्मा पर बोझ होता है, वह ज्ञान नहीं। हम पढ़ते हैं, उससे थकान आती है। चिन्तन से ज्ञान-क्रिया में थकान होती है। अतः जिस चीज की थकान होती है, वह उसकी नहीं, यही मानना चाहिए। मनुष्य को अपने शरीर का बोझ मालूम नहीं होता। कोई बाहरी बोझ उसके सिर पर आ जाय, तो उसका बोझ उसे भाररूप होता है। बाहरी बोझ से थकान मालूम होती है। ज्ञान एक स्वाभाविक गुण है। पर जब वह भार हो जाय, तब वह अस्वाभाविक मानना चाहिए। यानी वह तमोगुण हो जाता है।

ज्ञानी अहंकारी नहीं होता

ज्ञानी को अपने ज्ञान का भास नहीं होता। मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा भास किसी को होता है, तो वह अज्ञानी ही है। उसी तरह बुद्धि की बात है। हर मनुष्य की बुद्धि सीमित होती है। कोई मनुष्य अपनी बुद्धि को दूसरों की बुद्धि से ज्यादा मानता है, तो वह तमोगुणी बुद्धि मानी जायेगी। बुद्धि

अपने में तमोगुणी नहीं। पानी को गरम करें, तो उसमें उष्णता दाखिल होगी। अग्नि का गुण उसमें दाखिल हो सकता है। पर कितना भी गरम करने से भी पानी अग्नि नहीं हो सकता। इसी तरह मनुष्य की हालत है। मनुष्य का स्वभाव कभी तमोगुणी, कभी रजोगुणी, तो कभी सत्त्वगुणी होता है। पर मनुष्य वह नहीं है। किसी में सत्त्वगुण ज्यादा है, तो वह सत्त्वगुणी माना जायेगा। किसी में रजोगुण ज्यादा है, तो वह रजोगुणी होगा। परन्तु वह मनुष्य का पूर्ण स्वरूप नहीं है।

अपनी प्रकृति का परिवर्तन नहीं हो सकता। किसी का शरीर काला है। साबुन लगाने से वह सफेद नहीं हो सकेगा। हाँ, उसकी चमड़ी निकाल दी जाय, तो हो सकता है। पर कोई दाग लग गया हो, तो वह जरूर साफ हो सकता है। आत्मा पर किसी का जोर नहीं चलता, पर मन पर हमला होता रहता है। आत्मा पर हमला होता, तो वह दुरुस्त नहीं हो सकता। पर आत्मा किसी भी हालत में अपने ऊपर हमला नहीं होने देता। आत्मा सबसे अलग है। ज्ञान एक स्वाभाविक गुण है, इसलिए आत्मा ज्ञानीपन से भी अलग है। इसलिए ज्ञानी मनुष्य अहंकारी नहीं हो सकता। वह अपनी बुद्धि को दूसरों की बुद्धि का ही रूप मानता है। अपने में दूसरों की बुद्धि के अस्तित्व का भान करता है। इसलिए सच्चे ज्ञानी अत्यन्त नम्र होते हैं।

नम्रता ज्ञानी का स्वाभाविक गुण

गांधीजी ने कई व्रत बनाये। पर 'नम्रता' को उन्होंने व्रत नहीं माना। उसे वे स्वाभाविक गुण मानते थे। नम्रता की एक कहानी मैं आपको सुनाऊँगा। एकनाथ महाराज के शिष्य थे, दण्डवतस्वामी। भागवत के वे बड़े भक्त थे। भागवत में एक जगह एक वाक्य आया है—**'प्रणमेत् दण्डवत् भूमौ अश्वचांडालगोखरम्'** । यानी कुत्ता, चाण्डाल, गाय, गधा, जो भी मिले, उसके सामने दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। यह पढ़कर दण्डवतस्वामी ने अपना कार्यक्रम शुरू कर दिया। रास्ते में जहाँ कहीं जिस किसी को देखें, चाहे वह जड़ हो या चेतन, मनुष्य हो या गधा-घोड़ा, सभी को प्रणाम करना शुरू कर दिया। पहले तो लोग उन्हें पागल समझने लगे, पर कुछ दिनों बाद इसके आदी हो गये। वे भी स्वभावत: वैसा करते ही रहे, जिससे आगे चलकर लोग उन्हें

भगवद्-भक्त समझने लगे। उनको प्रणाम करने लगे। इतना ही नहीं, उनकी पूजा भी करने लगे। लोग इतनी पूजा करने लगे कि वे तंग आ गये। नम्रता के लिए उन्हें परेशान होना पड़ा।

आखिर वे एकनाथ के पास पहुँचे और सारी कहानी कह सुनायी। एकनाथ महाराज ने सारी कहानी सुन ली और कहा—'शास्त्र-वाक्यों का शब्दार्थ नहीं लिया जाता। उनका सार लेना होता है। उनका मानसिक अर्थ लेना चाहिए। उसे शारीरिक कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। इसलिए अब इस जन्म में तू पूज्यभाव से बच नहीं सकता। मेरा सुझाव है, तू गंगा में (गोदावरी के किनारे रहते थे और उसी को गंगा कहते थे।) इस शरीर का विसर्जन कर दे।'

दंडवतस्वामी गंगा में कूद पड़े। वे तैरना जानते थे। तैरते-तैरते थक गये और डूबकर मर गये। सारांश, नम्रता एक स्थूल वस्तु नहीं हो सकती। वह एक स्वाभाविक गुण है। उसके लिए कोई कार्यक्रम बनाना नहीं पड़ता और न कार्यक्रम से वह बन ही सकती है।

नम्रता ज्ञानी का स्वाभाविक गुण है। वे पहचानते हैं कि गुण-दोष बुद्धि तक ही होते हैं और बुद्धि आत्मा से पृथक् है। ऐसा स्पष्ट होने के कारण ज्ञानी नम्न हो सकता है। इसलिए मनुष्य गुण-विकास के लिए सत्त्वगुण का आधार मानता है। अगर सत्त्वगुण का अहंकार होता है तो मनुष्य आत्मस्वरूप से ही अलग होता है। इसलिए सत्त्वगुण को अहंकार से बचाना चाहिए।

मायसंद्रा, जिला-तुमकूर (कर्नाटक)

3-11-'57

गुण-विकास की प्रक्रिया :

८. भक्ति से ही निस्तार

सत्त्वस्य सत्त्वेन (सूत्र 80)

भक्त्या एव तु निस्तारः (सूत्र 81)

हमने देखा कि प्रकृति-शोधन की प्रक्रिया में तीनों गुण सामने खड़े होते हैं और उनका शोधन करना पड़ता है। तमोगुण के निरसन के लिए शरीर-परिश्रम तथा अप्रमाद-वृत्ति, ये दोनों साधन दीखते हैं। रजोगुण के लिए स्वधर्माचरण। सेवा-कार्य में अच्छी तरह देह, मन और बुद्धि सब साधनों के साथ लगा देनी चाहिए, जो सहज प्राप्त है और स्वाभाविक है।

सत्त्वगुण हमें ज्ञान की ओर ले जाता है, इसलिए वह तारक गुण है। पर आत्मा का स्वभावरूप जो ज्ञान है, वह एक चीज है और बुद्धि, जो ज्ञान की क्रिया है, वह दूसरी चीज। उसमें विद्वता, पांडित्य, विश्लेषणात्मक ज्ञान-विज्ञान, सृष्टि के ज्ञान आदि का समावेश होता है। ये सारे ज्ञान मनुष्य के लिए लाभदायी भी होते हैं, फिर भी मनुष्य को इन ज्ञान-क्रियाओं का भान होता है। यदि सतत ज्ञान-क्रिया करने की नौबत आती है, तो उससे बुद्धि को थकान आती है। इसलिए यह ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है।

सत्त्व का सत्त्व से शमन

जो ज्ञान आत्म-स्वरूप है, वह इससे भिन्न है। वह जीवन के लिए आवश्यक है। वह सत्त्वगुण द्वारा प्राप्त होता है। आत्मस्वरूप से भिन्न बुद्धि की क्रिया के रूप में जो ज्ञान मिलता है, उसके बोझ से कैसे छुटकारा मिले, यही प्रश्न अब हमारे सामने है। उसका नियमन कैसे किया जाय? इसके लिए सूत्र है—**'सत्त्वस्य सत्त्वेन'** यानी **'सत्त्वस्य शमनं सत्त्वेन'**। यहाँ **'शमन'** अध्याहृत है, अर्थात् सत्त्वगुण द्वारा ही सत्त्वगुण का शमन होता है। इसका अर्थ यही होता है कि हम सत्त्वगुण को बढ़ाते ही चले जायें। नदी के प्रवाह का वेग कैसे शमन होता है? बीच में बाँध डालकर रोकने से नहीं। उससे तो वह दूसरी दिशा में बह जायेगी। उसे तो समुद्र तक जाने ही देना चाहिए। उत्कर्ष या प्राप्तव्य स्थान पर पहुँचने पर ही उसका वेग शान्त होता है। इसी तरह जब

सत्त्वगुण अपने उत्कर्ष तक पहुँच जाता और अपना प्राप्तव्य स्थान प्राप्त करता है, तभी उसका वेग शान्त होता है और वह भी शान्त हो जाता है।

बच्चा जब पहले बोलने लगता है, तब उसे और उसके माँ-बाप को उसके बोलने का अभिमान होता है। पर बाद में जब बोलना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है, तब उसके बोलने की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। वैसे ही जब बच्चा चलने लगता है, तब सबको अच्छा लगता है। पर जब चलना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है तब वह बात नहीं रहती। इसी तरह जब सत्त्वगुण मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाता है, तब उसे उसका भान भी नहीं होता और उसका वेग भी शान्त हो जाता है। सूर्य को न तो अपने प्रकाश का और न अपने दातृत्व का ही भान होता है, क्योंकि प्रकाश देते रहना उसका स्वभाव है। नदी को अपने बहने का कोई अभिमान नहीं होता, कारण वह उसका स्वभाव ही है। वह उसके लिए कोई अभिमान का विषय नहीं। अपनी स्वभाव-वस्तु के लिए किसी को अभिमान नहीं हो सकता। जो बाहर से प्राप्त गुण होता है, उसके लिए अभिमान होता है।

सत्त्वगुण को जीतना

सत्यनिष्ठ पुरुष सदा सत्य बोलता है। सत्य उसका स्वभाव ही बन जाता है। उसे एक क्षण के लिए भी यह भास नहीं होता कि वह सत्य बोलता है। हमने घड़ी को घड़ी कहा, तो कौन-सी बड़ी बात हुई ? उसके लिए अभिमान क्यों करें? सत्य बोलना तो उसके लिए स्वाभाविक बात है। परन्तु सत्य बोलने में किसी को कुछ अभिमान होता हो, तो समझना चाहिए कि उसे सत्यनिष्ठा सधी नहीं है। उसने थोड़ा-सा सत्य बोलने का आरम्भ किया है, लेकिन अभी भी उसमें काफी मात्रा में असत्य पड़ा है। इसलिए उसे सत्य का आभास होता है और इसीलिए वह जितना भी सत्य बोलता है, उसके लिए उसे अभिमान होता है।

तो, जब तक कोई गुण गुण के रूप में रहता है और जब तक स्वभाव में परिणत नहीं होता, तब तक उसके लिए मनुष्य को अभिमान हो सकता है। तब तक वह गुण उसके विकास में, सब सृष्टि के साथ एकरूप होने में बाधक हो सकता है। परन्तु जब गुण स्वभाव में परिणत हो जाता

है, तब सारी सृष्टि के साथ, सारी दुनिया के साथ एकरूप होने में वह बाधक नहीं होता। फिर उस मनुष्य को समाज से, दुनिया से अलग रहने की इच्छा भी नहीं होती। मनुष्य को यह लगता है कि समाज में रहेंगे, दुनिया के साथ सम्बन्ध रखेंगे, तो शायद मेरा वैराग्य ढीला पड़ जायेगा। शायद मुझमें क्रोध का उदय होगा, मेरी सत्यनिष्ठा ढीली पड़ जायेगी। किन्तु इस तरह मन में यह 'शायद' होने का मतलब है, साधना में कुछ कच्चापन, इसके कारण यह भय उत्पन्न हो रहा है। परन्तु जब वह प्रेम, कारुण्य, सत्यनिष्ठा अपना स्वभाव ही हो जाती है, तब सारी दुनिया से, समाज से एकरूप होने में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं और न किसी प्रकार की बाधा ही होती है। इसलिए सत्त्वगुण के लिए यही उपाय है कि उसे बढ़ाते चले जाओ।

सत्त्वगुण को जीतना, उससे परे होना मुश्किल मामला है। रजोगुण, तमोगुण को काट सकते हैं, लेकिन सत्त्वगुण को जीतना कठिन है। उस सत्त्ववृत्ति पर जय कैसे प्राप्त करें। कहते हैं **सत्त्वं जयेत् सावधानः** (80.21)। उसके लिए अत्यन्त सावधान रहना पड़ेगा। फिर बताया है, **सातत्येन** (80.22)। सत्त्वगुण सतत रहना चाहिए। सातत्य से सत्त्वगुण-जय सम्भव है। आज सुबह से लेकर कल सुबह तक, और कल सुबह से लेकर परसों सुबह तक, इस तरह सत्त्वगुण में सातत्य हो। नहीं तो सत्त्वगुण टिकता नहीं। दिनभर क्या होता है? सुबह उठे। मन शांत, प्रसन्न है। भगवान की प्रार्थना करने की इच्छा होती है। सत्त्वगुण का प्रभाव है। फिर धीरे-धीरे भूख लगने लगती है, रजोगुण जोर करता है। खाना बनाते हैं, खाते हैं। खाना खा लिया, फिर क्या हुआ? सोने की इच्छा हुई। निद्रा आयी। तमोगुण जोर करने लगा। दिनभर में एक-एक गुण आता-जाता रहता है। लेकिन सत्त्व का सातत्य रहना चाहिए। फिर कहा, **निरहंकारेण** (80.23)। अहंकार छोड़ना चाहिए। मैं सत्त्वगुणी हूँ, यह अहंकार न हो। वह मूर्ख है, मैं अकलमंद हूँ, चित्त में ऐसा भेद आ सकता है। तुलना होती है। फलाना मनुष्य भ्रष्ट है, बेवकूफ है इसलिए तमोगुणी है, फलाना रजोगुणी है, हम सत्त्वगुणी हैं—इस प्रकार का अहंकार होता है। इसलिए निरहंकारता आवश्यक है। सत्त्वगुण स्वाभाविक हुआ या नहीं, इसकी कसौटी यह है कि अहंकार है या नहीं? सूर्य को प्रकाश का अहंकार नहीं, वह उसका स्वभाव है। ऐसे ही सत्त्वगुण स्वाभाविक होना चाहिए।

फिर चौथी बात बतायी, **कारुण्यासक्ति वर्जनेन** (80.24) करुणा-कार्य की आसक्ति छोड़नी चाहिए। वह मनुष्य का दौर्बल्य या मोह है। मोह के अनेक स्तर हैं। आखिर का स्तर 'कारुण्यासक्ति' है। वह मोह महापुरुषों को ग्रास्ता है। दुनिया की काफी सेवा की। अन्त में उसे परमात्मा पर छोड़कर उससे अलग होना चाहिए। वह बनता नहीं। यह जो करुणा का मोह है उसको मैंने 'कारुण्यासक्ति' नाम दिया है। वह मनुष्य का दौर्बल्य है। कारुण्यासक्ति छोड़ना बहुत कठिन होता है। फिर, **कीर्तिपरिहारेण** (80.25)। कीर्ति होगी तो उसे तोड़ना होगा। कीर्ति का लोप होना चाहिए। चारों ओर हमारी कीर्ति फैली है, उसे कैसे तोड़ना? कठिन सवाल है। लेकिन कीर्ति का परिहार होना चाहिए। और आखिर में लिखा, **अंतिमफलत्यागेन** (80.26)। अंतिम फल यानी मुक्ति। उसका भी त्याग। इतना करते हैं तब सत्त्व पर विजय प्राप्त होती है। मोह के ये जो अनेक स्तर हैं, उन सबको काटना है और सत्त्वगुण को जीतना है।

ब्रह्माण्ड और सत्त्ववृद्धि

सवाल उठता है कि सत्त्वगुण बढ़ाने में आगे कुछ तकलीफ पेश आती है। तो फिर कैसा किया जाय? इसका उत्तर आगे के सूत्र में है—**'भक्त्या एव तु निस्तारः'।** भक्ति से ही निस्तार है। उससे मदद मिलती है, क्योंकि अपने प्रयत्न की भी एक सीमा है। उसके बाद कहीं से मदद मिलनी चाहिए और वह मिलती ही है। वह सृष्टि से मिलती है।

मान लीजिये कि किसी मनुष्य के फेफड़े ठीक काम नहीं कर रहे हों, तो उसके लिए क्या उपाय करते हैं? कोई क्षय-रोगी है, उसे स्वच्छ हवा मिलनी चाहिए। हम उसे किसी ऊँची जगह ले जाते हैं, क्योंकि वहाँ उसे स्वच्छ हवा मिलेगी। जिसके फेफड़े अच्छे होंगे, वह तो यहीं कमरे से भी अच्छी हवा खींच सकेगा। परन्तु उस बीमार के लिए खुली हवा ही चाहिए, क्योंकि हवा खींचने की उसकी शक्ति क्षीण हुई है। इस तरह उसके फेफड़ों को बाहर की मदद दी जाती है। यह मदद साधारण मनुष्य के लिए अनावश्यक है। हमारे इस शरीर में किसी शक्ति की भी कमी हो, तो उसकी पूर्ति सृष्टि की ओर से होती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

यदि किसी की आँखें क्षीण होती हों, तो सूर्य-किरणों की मदद से वे दुरुस्त हो सकती हैं। सूर्य की किरणें पर्वतों पर पड़ती हैं, घास पर पड़ती हैं। और वहाँ से जिसे 'परावृत्त किरणें' कहते हैं, वे हमारी आँखों में पहुँचती हैं, तो उससे आँखें सुधर जाती हैं। इस तरह आँखों की जो शक्ति कम हुई थी, वह हमने बाहर से हासिल की। यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब न्याय के अनुसार होता है। हमारे शरीर में जो तत्त्व या शक्ति है, वह सारे ब्रह्माण्ड में भी है। यदि शरीर में उनकी कमी होती है, तो बाहर से पूर्ति हो सकती है। हमारे शरीर में रक्त है, तो सृष्टि में पानी है। हमें आँखें हैं, तो बाहर सूर्य है। हमारे अन्दर प्राण है, तो बाहर वायु है। हमारे रक्त में लोहा है, तो बाहर सृष्टि में भी वह रहता है। रक्त में लोहे का अंश कम होने पर डॉक्टर लोहा खाने के लिए कहते हैं—यानी जिस चीज में लोहे का अंश हो, ऐसी तरकारी या गुड़ खाने के लिए कहते हैं। इस प्रकार बाहर से मदद मिलने की प्रक्रिया को हम तत्त्वज्ञान की भाषा में ‘अनुग्रह’ कहते हैं। हमारी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हम पर ब्रह्माण्ड-शक्ति का अनुग्रह होता है। ऐसी कोई शक्ति बाहर अवश्य है, जिसकी मदद आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जरूरत पड़ने पर हमें मिल सकती है।

अपने को पहचानना आवश्यक

इसके लिए अपने-आपको अपनी देह से अलग करके पहचानने की जरूरत होती है। हमारी देह में हम कौन है? इस शरीर में कोई अलग चेतन वस्तु है, मैं स्पष्टत: अपने शरीर से भिन्न हूँ। मेरा शरीर ही बीमार होता है, फिर वह दुरुस्त भी होता है। यदि मेरा एक हाथ या दूसरा कोई अवयव कट जाय, तो मेरे 'मेरेपन' में कोई कमी नहीं होती। मेरा हाथ या आँख मैं नहीं। इसलिए मेरा वोट का अधिकार छीन नहीं लिया जाता। बुद्धि की भी ऐसी ही बात है। मेरी स्मरण-शक्ति आज-कल काम नहीं करती। ज्यादा चिन्तन करता हूँ, तो थकान आती है। इसलिए मैं किसी डॉक्टर से जाकर शिकायत करता हूँ। तो मेरी स्मरण-शक्ति या बुद्धि की इस न्यूनता को जो पहचानता है, वह कौन है? स्पष्ट ही है कि वह कोई मेरी बुद्धि से भिन्न वस्तु है।

मेरा चरखा बिगड़ जाता है तो उसे दुरुस्त करने के लिए मैं बढ़ई के पास ले जाता हूँ। लेकिन उस चरखे से वह बढ़ई और मैं भिन्न हूँ। वैसे ही वह डॉक्टर और मैं दोनों ही मेरी बुद्धि से

भिन्न हैं। मेरी बुद्धि से जितना वह डॉक्टर अलग है, उतना ही अलग मैं हूँ। हम दोनों मिलकर उस बुद्धि को सुधारने की तरकीब निकालना चाहते हैं। मनुष्य की बुद्धि क्षीण होती है, पर मनुष्य क्षीण नहीं होता, वह अक्षीण ही बना रहता है। इसीलिए वह बुद्धि को सुधारने के निमित्त बाहर से मदद माँग सकता है। इस प्रकार मैं इस देह और बुद्धि से भिन्न हूँ।

इसी प्रकार से सारी दुनिया में भी इस भौतिक सृष्टि से भिन्न एक परमात्मा, परम शक्ति है। उसे कोई भी नाम दीजिये। उस शक्ति का अनुग्रह हमें मिल सकता है। सत्त्वगुण के उद्भव में उसकी मदद मिल सकती है। सत्त्वगुण का उत्कर्ष करते हुए बीच में उसका अभिमान न हो, अहंकार आरूढ़ न हो, इसलिए भी उसकी मदद माँगी जा सकती है।

सत्त्वगुण तारक गुण है, परन्तु उसके अपनाने से ही यदि दोष पैदा होते हों, तो उन दोषों का वह स्वयं सुधार नहीं कर सकता। फिर उसका उत्कर्ष होकर वह अपने स्वभाव में परिणत होने तक जो बीच की हालत है, उस समय होनेवाले तमोगुण और रजोगुण के हमले से मनुष्य को कौन बचायेगा? यहाँ उसका रास्ता है—**'भक्त्यैव तु निस्तारः'।** इसलिए गुण-विकास के लिए भक्ति का सहारा आवश्यक है। उस गुण-विकास की प्रक्रिया का अन्त भी भक्ति में करना पड़ता है। यह एक विशेषता आध्यात्मिक और पारमार्थिक साधना में है।

बलवती बुद्धि की मदद लेना बुद्धिमानी

हम प्रायः स्वतंत्र बुद्धि से निर्णय करने की बात करते हैं। बहुत बार कहते हैं, हम अपनी बुद्धि का निर्णय मानेंगे। यह क्या चीज है? अपनी बुद्धि का अर्थ क्या है? बुद्धि-प्रामाण्यवादी कहते हैं कि बुद्धि द्वारा निर्णय हो। यहाँ तक तो ठीक है। निर्णय बुद्धि से तो होना ही चाहिए, लेकिन जो यह मानते हैं कि निर्णय अपनी बुद्धि से ही हो, वे अपनी बुद्धि का ही प्रामाण्य मानते हैं। उनका यह विचार बुद्धि-प्रामाण्यवाद नहीं। मैं मानता हूँ कि मेरा हाथ कमजोर है, इसलिए कई काम मैं अपने हाथ से नहीं कर सकता। अतः दूसरों के मजबूत हाथों से वह काम करवा लेता हूँ। यदि मैं ही काम करता रहूँ, हाथ टूट जाय, तो भी परवाह न करूँ, तो इसमें अक्लमंदी नहीं है। वैसे ही यदि मैं जानता हूँ कि मेरी बुद्धि कमजोर है और दूसरे की बुद्धि बलवान है, फिर भी मैं अपनी ही

बुद्धि से निर्णय करूँ, तो यह मूर्खता है। जहाँ अपनी बुद्धि कमजोर है, वहाँ अधिक बलवान् बुद्धि की मदद लेना मूर्खता का लक्षण नहीं, वह अक्ल की ही प्रक्रिया है।

बुद्धि का उपयोग न करना आलस्य

बुद्धि-प्रामाण्यवादी बुद्धि से ही निर्णय करने पर मानता है, लेकिन स्वबुद्धि सदा प्रमाण नहीं होती। यदि वह केवल अपनी बुद्धि को प्रमाण मानेगा, तो उसके बल से उसकी प्रगति तो होगी, किन्तु आगे उसमें बाधा आयेगी। जहाँ उसकी अपनी बुद्धि की सीमा आयेगी, वहाँ आकर उसकी प्रगति रुक जायेगी। लेकिन अपनी बुद्धि की जहाँ तक पहुँच है, उसके अन्दर उसे उपयोग में न लाना भी गलत होगा। अपने कमजोर हाथ से मैं भारी काम नहीं कर सकता, पर एक लोटा उठा सकता हूँ। तो यदि मैं लोटा उठाना भी टालूँगा, उसके लिए भी दूसरे पर निर्भर रहूँगा, तो वह आलस्य का लक्षण होगा। इसलिए अपनी बुद्धि की पहुँच के अन्दर उसे पूरा काम लेना चाहिए। लेकिन जहाँ उसकी पहुँच न होती हो, ज्यादा भार आता हो, वहाँ अपनी बुद्धि में अधिक बलवान बुद्धि की मदद लेने में कोई दोष नहीं।

हर बुद्धि का उपयोग करना हमारा कर्तव्य है। इसीलिए हम सज्जनों का मार्गदर्शन लेते हैं। परस्पर विचार-विनिमय भी करना पड़ता है। कुरान में एक वाक्य है कि इसलाम के अनुयायी भक्तगण परस्पर सलाह-मशविरे से तय करते हैं। कुरान ने तो इसमें भक्त-लक्षण माना है। परस्पर सलाह-मशविरा करना, यह बुद्धि का ही लक्षण है।

परन्तु दूसरों की बुद्धि भी कम पड़े, तो क्या होगा? तो मानना होगा कि दुनिया में कोई एक परम शक्ति है, जिसे हम 'परमेश्वर' कहते हैं, उसका आधार मिलता है। यह काल्पनिक नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। अपनी बुद्धि जहाँ कम पड़ती है, हम किसी को गुरु मानकर उनकी बुद्धि की मदद ले सकते हैं। फिर भी कम पड़े तो परमेश्वर का आश्रय ले सकते हैं। वहाँ तो बैंक है। हमारी पूँजी रखी हुई है। वह उसका ट्रस्टी होकर बैठा है। माँगते ही वह हमें दे देता है। वह तो हमारा ही बैंक है। आपका पैसा कुछ ट्रंक में है और कुछ बैंक में। ट्रंक का पैसा खतम होने से माँगने पर बैंक का पैसा मिल सकता है। वैसे ही आपकी बुद्धि ही वहाँ भरी है, लेकिन हम माँगते

ही नहीं। बल्कि जानते भी नहीं कि कैसे माँगा जाता है। लेकिन वहाँ वह रखी है। उसी के सहारे निस्तार होता है।

भक्ति की सर्वत्र जरूरत

यहाँ भक्ति की आवश्यकता होती है। गुण-विकास में भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में भी उसी की जरूरत होती है। रजोगुण तथा तमोगुण के हमलों से बचने के लिए भी भक्ति का सहारा लेना चाहिए। हर जगह उसकी जरूरत है। हमारी बुद्धि एक हद तक चलती है। मगर एक ऐसा बिन्दु होता है, जिसके बाद उससे काम नहीं चलता। उसकी शक्ति कम पड़ती है। उसकी 'सप्लाई' की योजना विश्व में मौजूद है। जो माँगकर ले सकेगा, उसे मिलेगी। जो माँगना जानता नहीं, उसे नहीं मिलेगी।

मैं सोचता हूँ तो लगता है, लोग नाहक भक्ति को इस किनारे ले आते हैं। दरअसल वह तो उस किनारे की चीज है। इस किनारे तो प्रयत्नवाद का ही काम है। जहाँ तक अपनी बुद्धि चलती है, वहाँ तक तो प्रयत्न करते ही रहना है, लेकिन लोग गलत प्रकार से भक्ति करते हैं। अपने प्रयत्न की शक्ति पूरी लगाये बिना वहाँ से माँग करते हैं। भगवान ने जो पैसा दिया है वह खर्च किये बिना, हमारे ट्रंक में जो पैसे हैं उनका उपयोग किये बिना यदि हम बैंक से नये पैसे माँगें, तो वे कहाँ से मिलेंगे? भक्ति तो वास्तव में वहीं आती है जहाँ हमारे सारे प्रयत्न टूट जाते हैं। पर हिन्दुस्तान में आलसी भक्ति चलती है। इस आलसी भक्ति से कैसे काम होगा? यह तो एक तरह से ईश्वरदत्त शक्ति की अवहेलना करना है। उस शक्ति की अवहेलना कर यदि हम आलसी भक्ति से काम लेना चाहें, तो उससे काम नहीं बनेगा।

भगवान भी परेशान

आज भारत में भक्ति के जितने प्रकार चलते हैं, वे कुल-के-कुल गलत हैं। सबमें कुछ-न-कुछ कमियाँ रह गयी हैं। सच्ची भक्ति का अधिकार यदि किसी को है, तो उन्हें ही है, जो प्रयत्नशील हैं। जो आलसी हैं, उनकी भक्ति देख भक्ति के असली प्रकारों से ही लोग घृणा करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर को बड़ी मुश्किल हो जाती है। जिन लोगों को भक्ति का अधिकार नहीं, वे ही

ईश्वर का नाम लेते हैं और जिन्हें माँगने का अधिकार है, वे उससे माँगते ही नहीं। इसलिए बेचारा ईश्वर बहुत ही परेशान है, बेजार हो रहा है। वह समझ ही नहीं पाता कि इस हालत में क्या करना चाहिए।

इस तरह सात-सूत्रों में (75-81) हमने गुण-विकास की प्रक्रिया समाप्त की है।

तुरवैकेर, जिला-तुमकूर (कर्नाटक)

4-11-‘57

ब्रह्म सत्यं जगत्स्फूर्ति :।

जीवनं सत्यशोधनम्॥

परिशिष्ट

१. देहभिन्नता की पहचान

हम समझते हैं कि हम मकान में रहते हैं, गीता कहती है यह बहुत बड़ा भ्रम है। हमको समझना चाहिए कि हम देह में रहते हैं। जिस प्रकार घर में रहते हैं तो घर की थोड़ी आसक्ति रहती है। परन्तु वह थोड़ी रहती है, ज्यादा नहीं। उस प्रकार की भावना देह के लिए रहनी चाहिए। अगर यह बात ध्यान में आती है तो बहुत बड़ा काम हो जाता है। मकान जब तक पूरा गिरता नहीं, दुरुस्त हो, नादुरुस्त हो, हम उसका उपयोग करते हैं। लेकिन उसके बजाय हम उसमें आसक्त बन जायें, हम मकान की ईंटें ही बन जायें, तब तो हम जड़ बन जायेंगे। वैसे देह में रहते हुए हम देहमय बन जायें तो हम जड़ बन जायेंगे और फिर देह का उपयोग करने की शक्ति नहीं रहेगी। जैसे ईंट मकान का एक अंग है, वह मकान का उपयोग नहीं कर सकती। अगर हम देह का उपयोग नहीं करेंगे तो देह ही हमारा उपयोग करेगा। इसलिए अपने को देह से भिन्न पहचानना चाहिए, देह से अलग करना चाहिए। **शरीरात् प्रवृहेत् (67)**।

साम्यसूत्र आगे कहता है—**अन्यथा संस्कारासंभव: (68)**। मतलब, शरीर से अपने को अलग नहीं करोगे तो सुधार नहीं हो सकेगा। मान लीजिए कि शरीर रोगी है तो मैं भी रोगी हूं ऐसा मान लिया तो मनुष्य खतम ही है। फिर डॉक्टर लाख कोशिश करे, वह शरीर जियेगा नहीं। परंतु मनुष्य अगर महसूस करेगा कि शरीर रोगी है लेकिन मैं तो निरोगी हूं, इस रोगी शरीर का मैं साक्षी हूं, तो उसमें सुधार सम्भव है। घर गिरने के साथ मैं ही गिर जाऊँगा तो उसको कौन दुरुस्त करेगा? इसलिए संस्कार या सुधार करना असम्भव हो जायेगा, अगर हम अपने को देहमय समझते हैं। माना जाता है कि वेदांत दुनिया के काम की चीज नहीं है। वह देह को हमसे अलग पहचानने की अव्यवहार्य बात करता है। परन्तु देह से हम अपने को अलग मानेंगे तभी हमारा व्यवहार उत्तम होगा, अन्यथा हम व्यवहार नहीं करेंगे, व्यवहार ही हमको करेगा। हम व्यवहारवश हो जायेंगे। व्यवहार के कर्ता बनने के बजाय हम व्यवहार के कर्म बन जायेंगे।

2. क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्

क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम् (103) यानी जैसे-जैसे क्रिया का उपरम होगा, वैसे-वैसे कर्मशक्ति बढ़ेगी। केवल बाहरी हलचलों से कर्म नहीं होता। क्रिया जैसे-जैसे सूक्ष्म में जाती है, वैसे-वैसे कर्म बढ़ता है। विज्ञान में भी जब से न्यूक्लीयर एनर्जी, आणविक शक्ति आयी है, तब से ध्यान में आया कि स्थूल शस्त्रों के बनिस्बत सूक्ष्म शस्त्र ज्यादा परिणामकारक होते हैं। जैसे विज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म शस्त्र निकले हैं, वैसे अध्यात्म के क्षेत्र में भी सूक्ष्म-शोधन हो सकता है। स्थूल कर्मयोग की एक मर्यादा है, उसके बाद उसको छोड़ना चाहिए और सूक्ष्म में प्रवेश करना चाहिए। चित्त को, देह को, समाज को अलग करके चित्त का चैतन्य बनना चाहिए। मेरी अपेक्षा यह है कि पूर्ण में, चैतन्य में जाने के बाद कर्मयोग क्षीण नहीं होगा, बल्कि 'वीर्यवत्तर' होगा। क्रिया कम, कर्म ज्यादा। उत्तरोत्तर क्रिया कम होती जाये, उत्तरोत्तर कर्म बढ़ता जाये।

कर्म और क्रिया में जो अंतर है, उसे समझ लें। क्रोध आने पर कोई बहुत बोलकर और कोई बिलकुल न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नहीं करता, किन्तु कर्म अनंत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोकसंग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुष की तो केवल उपस्थिति ही पर्याप्त है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों, तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है और कर्म उलटे बढ़ते जाते हैं। विचार की यह धारा आगे ले जायें एवं चित्त परिपूर्ण, शुद्ध हो जाये, तो अंत में क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनंत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य इस तरह अपने-आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायेगा। परन्तु तब अनंत कर्म अपने आप होते रहेंगे। और ध्यान से बहुत कुछ सेवा हो सकती है। प्रत्यक्ष कार्य से जितनी सेवा होती है, उससे बहुत अधिक सेवा चिन्तन और ध्यान से हो सकती है।

सामान्य स्तर से सोचेंगे तो लगेगा कि चिन्तन से ज्यादा शक्ति वाणी में है और वाणी से ज्यादा शक्ति क्रिया में है। लेकिन जहाँ चित्त शून्य हो जाता है, वहाँ क्रिया से ज्यादा शक्ति वाणी में

और वाणी से ज्यादा शक्ति चिन्तन में आती है। चित्त शून्य हो जाये, तो एक-दूसरे को संदेश एकदम पहुँच जाता है, देह की जरूरत नहीं।

क्षेत्र छोटा रहा, तो कुछ विशिष्ट स्थूल कार्य कर सकते हैं। क्षेत्र जितना व्यापक, उतना हमारा कार्य भावनात्मक रहेगा। झाड़ू लेकर किसी एक विशिष्ट स्थान की सफाई हो सकती है, किन्तु स्वच्छ विश्व का कार्य मानसिक रहेगा। विश्वशांति का सर्वोत्तम साधन है, अपने मन को विश्व के साथ तद्रूप बनाना। कर्म जितना कम होगा और आत्मिक भावपूर्वक ध्यान जितना बढ़ेगा, उतना वह काम सुलभ होगा। छोटे क्षेत्र में कर्म की ताकत अधिक और शब्द की ताकत कम होती है। क्षेत्र बड़ा हो तो कर्म से वाणी अधिक असरकारक होगी और उससे भी अधिक असर होगा मौन का।

इस संदर्भ में हम कृतिवाद की बात जरा सुन लें। कृतिवाद कहता है—प्रार्थना, नामस्मरण, पूजा-पाठ आदि की वस्तुतः कोई जरूरत नहीं है। हम चौबीसों घंटे सत्कर्म में रत रहें, तो बस है। कर्म-शुचित्व का मार्ग भी कर्म ही बतायेगा। कर्म पर अनन्य निष्ठा रखने के बजाय, कुछ निष्ठा कर्म पर, कुछ निष्ठा प्रार्थना पर, इस तरह का द्विधा-भाव रखना अच्छा नहीं है। द्वैत हर हालत में तकलीफ देता है। इसलिए निश्चय करो **कर्मभिः निःश्रेयसम्**—कर्म ही मोक्षदायक है।

दूसरी ओर वेदांत ने हमेशा कहा है कि क्रियाएँ कम होनी चाहिए। इसलिए वेदांत पर आक्षेप है कि वह लोगों को निष्क्रिय बनाता है। यह आक्षेप आज का नहीं, पुराना है। परन्तु ब्रह्मसूत्र-भाष्य में भाष्यकार ने उसका उत्तर देते हुए कहा है—**अलंकारो हि अयं अस्माकं**—हम यह अपना अलंकार ही समझते हैं कि ब्रह्मविद्या में **सर्वकर्तव्यताहानिः**—सब कर्तव्यता समाप्त होती है। बड़ा शानदार वाक्य है। आक्षेप को हम भूषण समझते हैं, ऐसा उत्तर दे दिया।

गांधीजी अत्यन्त क्रियाशील दीखते थे। मैंने 'रामनाम, एक चिन्तन' किताब में ध्यान खींचा है कि कर्मयोगी महात्मा गांधी शंकराचार्य की निष्क्रियता पर आ गये, जब वे कहते हैं—"एक सच्चा विचार सारी दुनिया पर छा सकता है, उसे प्रभावित कर सकता है। वह कभी बेकार नहीं जाता। विचार को बोल या काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर

देती है। ऐसा कौन है, जो अपने विचार को शब्द या कार्य में पूरी तरह प्रकट करने में कामयाब हुआ हो? आप यह पूछ सकते हैं कि अगर ऐसा है, तो फिर आदमी हमेशा के लिए मौन ही क्यों न लें? उसूलन तो यह मुमकिन है, लेकिन जिन शर्तों के मुताबिक पूरी तरह विचार की जगह ले सकता है, उन शर्तों का पूरा करना बहुत मुश्किल है। मैं खुद अपने विचारों पर इस तरह का पूरा-पूरा काबू पा लेने का कोई दावा नहीं कर सकता। लेकिन मेरे दिल में तो इसकी एक तस्वीर खिंच गयी है।"

अक्सर हम कहते हैं और गांधीजी भी कहते थे कि विचार को हमें कृति में उतारना चाहिए। कृतिशून्य विचार कोई ताकत नहीं रखता। लेकिन यहाँ तो उससे बिलकुल उलटी बात कह दी है : "विचार को काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर देती है।" यहाँ हम संन्यास के करीब पहुँच चुके हैं। संन्यास का नाम लेते ही कुछ लोग मुझ पर रुष्ट हो जायेंगे, यह मैं जानता हूं। लेकिन कर्मयोगी गांधी के दिल में जो तस्वीर खिंच गयी है, वह संन्यास की है, इसके लिए मेरा कोई चारा नहीं। शंकराचार्य की वही हालत थी। वे आमरण कर्मयोगी रहे, लेकिन संन्यास की रटन रटते रहे।

संन्यास कहने से हमारे मन में दुर्बल निष्क्रियता का ही खयाल आता है। लेकिन क्रियातीत एक शक्ति होती है, जिसका मुकाबला तीव्रतम क्रिया भी नहीं कर सकती। एक हद तक क्रिया विचार की मददगार होती है। उसके बाद वह बाधक हो जाती है। गीता ने यह बहुत अच्छी तरह से समझाया है। 'कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म यह है गीता-सूत्र। आत्मदर्शी ज्ञानी कर्म करते हुए नहीं करते और न करते हुए भी कर लेते हैं। इस चीज का जिसने अनुभव किया, उसने सब ज्ञान पा लिया, सब योग साध लिया, सब काम कर लिया—**स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् (4.18)।**

अकर्म में कर्म ऐसी चीज है कि उसका कोई नाटक नहीं हो सकता। वह अवस्था आनी चाहिए। वह लादी नहीं जा सकती, आ जाती है। वह लाने की नहीं, आने की चीज है। उससे अहम् कम होगा। पूर्ण जायेगा, शून्य होगा, ऐसा नहीं। उससे विकार क्षीण होंगे, हृदय शुद्ध होता जायेगा।

शुद्ध हृदय से किया हुआ संकल्प भी, सापेक्षतया कम शुद्ध हृदयवालों के द्वारा किये हुए कर्मों से अधिक कारगर होगा। यह भी हमने गीता-प्रवचन में लिख दिया है कि क्रिया तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य होती जायेगी और क्रिया जैसे-जैसे सूक्षम होगी, वैसे-वैसे कर्म-शक्ति बढ़ेगी। गीता-प्रवचन 1932 में कहे गये, लेकिन उनमें कुछ भी फरक करने की जरूरत हमें महसूस नहीं होती है। उस वक्त वह अनुभव नहीं आया था, जो आज आ रहा है, लेकिन उस वक्त वह प्रतिभा में आ गया था और वह प्रतिभा सही थी। आज भी हम कहते हैं कि गीता-प्रवचन पढ़ें तो बाबा का पूरा विचार उसमें मिल जायेगा। हमारे विचारों की वह पूर्ण किताब है।

आज विज्ञान के कारण अज्ञात के दरवाजे खुल रहे हैं। पहले जो काम दस सालों में होता था, आज दस मिनट में होने लगा है। पहले दस साल में पृथ्वी में जितना घूम सकते थे, आज दस मिनट में उतना संचार होता है। मनुष्य के पराक्रम से आज हिमालय जैसा बड़ा पहाड़ बौना हो गया है; पैसिफिक जैसा विशाल समुद्र छोटा हो गया है। आज के मुत्सद्दी लोग सोचने बैठेंगे तब उनके सामने पूरे विश्व का नक्शा रहेगा। इसलिए हम जो काम करेंगे उसका भावमूल्य विश्व से कम न हो। 'भावमूल्य' शब्द का मैंने विचारपूर्वक इस्तेमाल किया है। विश्वयुद्ध के बाद परिस्थिति बदली और नयी-नयी शक्तियों का उदय हुआ। परिणामस्वरूप, पिछले कुछ सालों से क्रियामूल्य कम हुआ है, भावमूल्य बढ़ा है। गांधीजी ने सत्याग्रह किया। उस पुराने सत्याग्रह में भावना का महत्त्व तो था ही किन्तु क्रिया का भी महत्त्व था। अब आगे जो कोई सत्याग्रह होगा, वह भावप्रधान रहेगा और उसमें क्रिया एकदम गौण रहेगी। जैसा कि होम्योपैथी की दवाई। उसमें औषध की मात्रा कम-से-कम रहती है, शक्कर की मात्रा ज्यादा से ज्यादा रहती है। उसकी पोटन्सी बढ़ानी है तो शक्कर बढ़ाते जाना और घोटते रहना। शक्कर जितनी बढ़ेगी, औषध की मात्रा उतने प्रमाण में कम होती जायेगी। परन्तु उसे घोटते जायेंगे तो परिणाम बढ़ेगा, तीव्र परिणाम आयेगा। उसमें जो औषध है वह क्रिया है और शक्कर है भाव। जितनी भावशुद्धि अधिक होगी उतना कार्य अधिक परिणामकारी होगा। क्रिया कम होती जायेगी और भावशक्ति बढ़ेगी।

ज्ञानदेव ने ज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए कहा है—**तयाची क्रिया ढाळे ढाळे गळित आहे,** अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष की क्रिया धीरे-धीरे कम होती जायेगी। उसका आत्मज्ञान जैसे-जैसे

बढ़ता जायेगा, क्रिया धीरे-धीरे कम होती जायेगी; शर्करांश बढ़ता जायेगा, औषध की मात्रा कम होती जायेगी। अब दिन आ गये हैं जब हमारे कार्य का आकार, क्रिया का व्याप, उसके लिए की जानेवाली दौड़-धूप, धांधल-धमाल इन सबका महत्त्व कम रहेगा और उसमें कितनी भावशुद्धि अधिक है, उसका महत्त्व ज्यादा रहेगा।

तो जिसमें क्रिया की तीव्रता कम हो और विचार की प्रक्रिया अधिक हो ऐसी सौम्य प्रक्रिया, ऐसी कार्यपद्धति हमें धीरे-धीरे अपनानी होगी। अगर हम अधिक विचार-परायण बनें और क्रिया की मर्यादाओं को ठीक-ठीक समझें तो अहिंसा अधिक फैलेगी। तब हमारे कार्य का मूल्य बाह्य क्रिया पर निर्भर नहीं रहेगा, बल्कि उसका जो भावमूल्य होगा, उसमें शक्ति होगी। यह बात हमेशा के लिए ही सत्य है। लेकिन इस युग के लिए विशेष सत्य है। आणविक युग में लड़ाई में भी क्रिया का मूल्य कम हुआ है और सूक्ष्म शक्ति काम करने लगी है। तो आध्यात्मिक और सामाजिक क्षेत्र में भी ऐसी शक्तियाँ या साधन हाथ में आने चाहिए, जिनमें कम-से-कम क्रिया में ज्यादा-से-ज्यादा कार्य निकले। इसी एक विचार पर हमारा कुल-का-कुल गीता-प्रवचन खड़ा है।

सूक्ष्म कर्मयोग यानी **क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्।** क्रिया कम करना, उससे कर्म बढ़ता है। कृति कम हो, तब कर्म बढ़ता है। जितनी क्रियाएँ ज्यादा होंगी, उतनी कर्मशक्ति घटेगी और उतने साधन एकत्र करते-करते आप बेजार हो जायेंगे। इसलिए क्रियाएं कम और कर्मशक्ति ज्यादा होनी चाहिए। स्नान, भोजन, निद्रा ऐसी कुछ क्रियाएं तो शरीर के साथ जुड़ी हुई हैं, वे तो करनी ही चाहिए। बाकी सोचकर तय करने की बात है कि कौन-सी क्रियाएं कम करना। क्रियाएं और औजार कम और कर्मशक्ति ज्यादा यह दृष्टि हमारे काम में होनी चाहिए। क्रिया कम करने के साथ-साथ अहं को भी शून्य करना होगा। अहं शून्य नहीं होगा तो सूक्ष्म कर्मयोग निकम्मा हो जायेगा।

३. अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात्

आखिरी सूत्र है—**अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात् (108)**। प्राप्त करने की चीज अहंमुक्ति है। अहंकार है इसलिए हम सीमित हैं। अहंकार छूट जायेगा तो उत्तरोत्तर समाजमय, विश्वमय, परमात्ममय होते जायेंगे। नमक पिघल जाता है तो पानीमय हो जाता है, पानी से एकरूप हो जाता है। वैसे 'अहम्' गया तो आसपास जो समाज है, खासकर सेवकों का समाज, साधकों का समाज, उसमें मिल जायेंगे। अपना कुछ भी खयाल नहीं होगा, समाज का ही खयाल रहेगा।

ऊधम मचाने के, लोगों को सताने के जो काम होते हैं, वे काम अहंकार से होते हैं। लेकिन दुनिया की उन्नति के जो काम होते हैं, विश्व-उद्धार के काम, वे अहंकार से नहीं, ईश्वरी प्रेरणा से होते हैं।

अहंमुक्ति की बात ठीक है। किन्तु अहंकार, अहंकार इस प्रकार रटन लगाने से अहंकार बढ़ता ही जाता है। इसलिए अहं-अहं सब भूल जायें और परमात्मा के लिए काम किया करें। अहंकार व्यापक बनाते जायें। व्यापकता से ही शुद्धि उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों अहंकार व्यापक होता जाता है, त्यों-त्यों वह पतला होता जाता है और फीका पड़ने लगता है। उससे ही आखिर वह गल जाता है; और तब देह भी गिर पड़ती है।

अपने देश की संस्कृति में अनेक उत्तम गुण और कुछ न्यूनताएं हैं। आत्मपरीक्षण की दृष्टि से न्यूनता का खयाल रखना जरूरी है। एक बड़ी न्यूनता यह है कि हमारे यहाँ सामूहिक इच्छाशक्ति का अभाव पाया जाता है। बुद्ध, रामानुज, शंकर, गांधी आये तो थोड़ी देर के लिए सामूहिक इच्छाशक्ति प्रकट हुई। बाकी सामूहिक इच्छाशक्ति के खिलाफ हमने तत्त्वज्ञान बना रखा है। किन्तु समझने की बात है कि 'मेरी मुक्ति' की बात ही मुक्ति के खिलाफ जाती है। व्यक्तिवादी लोग ऐसी बात करते हैं। इसलिए जरूरी है **अहंमुक्तिः शब्दात्**।

४. विहंगम दर्शन

108 सूत्रों का यह (साम्यसूत्र) छोटा-सा संस्कृत ग्रंथ है। संस्कृत में बड़े-बड़े ग्रंथ भी काफी हैं। महाभारत के आरम्भ में व्यासदेव ने लिखा है—**यत् न इह अस्ति, न तत् क्वचित्**—जो यहां नहीं है यानी महाभारत में नहीं है वह दुनिया में कहीं है ही नहीं। महाभारत में क्या नहीं है? व्यासजी महाभारत में द्रौपदीसहित पांच पांडवों को 13 साल जंगल में भेजते हैं और हमको भी उनके पीछे-पीछे घुमाते हैं। नदी, पर्वत, जंगलों से वे जाते हैं तो सारे भूगोल की जानकारी देते हैं। द्रौपदी कभी किसी ऋषि से पूछती है, अरे! हमारी जितनी तकलीफ कभी किसी ने सहन की होगी? तो ऋषि जवाब देते हैं, अरे हां, सीता को भी इतनी तकलीफ हुई थी। कहकर पूरा रामायण सुनायेंगे। महाभारत में थोड़े में बहुत ही सुन्दर रामायण हमें पढ़ने को मिलती है। कभी युधिष्ठिर को लक्ष्य करके द्रौपदी पूछेंगी, इनके जितनी तकलीफ किसी ने सहन की होगी क्या? तो कोई ऋषि पूरा नलाख्यान सुनायेंगे। इस प्रकार सारा इतिहास उसमें आ जायेगा। कभी नारद युधिष्ठिर के राज्य में आयेंगे और पूछेंगे सब कुशल मंगल है न? खेती कैसी है? तुम्हारे मंत्रीगण कैसे हैं? और उत्तर में सारा राजनीतिशास्त्र कहा जायेगा। उसी प्रकार वनस्पतियों का ज्ञान भी दिया जायेगा। महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। रामायण-भागवत भी बड़े ग्रंथ हैं। संस्कृत में इस प्रकार के विशाल ग्रंथ हैं वैसे छोटे ग्रंथ भी हैं। इन छोटे ग्रंथों को सूत्र-ग्रंथ कहते हैं।

व्याकरण में पाणिनी का सूत्र-ग्रंथ उपलब्ध है। वैसे ही न्यायसूत्र, योगसूत्र, मीमांसासूत्र जैसे ग्रंथ एक-एक पन्ने में पूरे छप सकते हैं। सूत्रों का उपयोग है कि थोड़े में पूरा विषय स्मरण रखा जाये। फिर सूत्र पर भाष्य लिखे जाते हैं। ब्रह्मसूत्र मूल है, उस पर शंकर ने भाष्य लिखा और उस भाष्य पर शंकर के 400 साल के बाद वाचस्पति ने अपनी पत्नी के नाम से ‘भामती’ नामक भाष्य लिखा। उस पर 'कल्पतरु', कल्पतरु पर 'सुमन', सुमन पर ‘परिमल' और परिमल पर ‘भृंग’ ऐसी भाष्यों की सात पीढ़ियां चलीं। अपना स्वतंत्र ग्रंथ लिखने के बजाय मूल ग्रंथ में अपना अर्थ लगाना यह भारतीय पद्धति है। जब हम उड़ीसा में (1955) यात्रा कर रहे थे तब हमने गीता प्रवचन के लिए संस्कृत में सूत्र लिखने का सोचा और 108 सूत्र लिखे।

1. अभिधेयं परम-साम्यम्—हमारा अभिधेय यानी लक्ष्य है, परम-साम्य। ब्रह्मसूत्रकार का प्रथम सूत्र है, **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** और कर्मकांड के विषय में प्रथम सूत्र है, **अथातो धर्मजिज्ञासा।** वैसे योग के विषय में पतंजलि का प्रथम सूत्र है, **अथ योगानुशासनम्।** फिर उसे सूत्ररूप में खोलने के लिए लिखते हैं, **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** इस प्रकार व्याख्या देकर फिर गहराई में ले जाते हैं।

गीता को भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। किसी ने उसको कर्मयोग कहा तो किसी ने ज्ञानयोग कहा। हमने गीता को **साम्ययोग** नाम दिया है और बताया कि परम-साम्य की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है। परम-साम्य यानी जहां चेतन-चेतन में तो भेद है ही नहीं, जड़-चेतन का भी भेद जहां नहीं रहता है ऐसी साम्य की परम अवस्था।

2. संबंधेन—संबद्ध चिन्तन हो तभी साम्य मिलेगा। आज एक भेद मिटाना है, कल दूसरा भेद मिटाना है, इस प्रकार सब भेदों को मिटाकर परम-साम्य की स्थापना करनी है।

3. प्रयोजनवत्त्वात्—शास्त्र कहता है, ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयोजन चाहिए। शंकराचार्य उदाहरण देकर कहते हैं कि राजऽसौ गच्छति या सप्तद्वीपा वसुमती ऐसा कहने से आपका कया काम होगा? किन्तु परम-साम्य की प्राप्ति में सब पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है तो उसका हमारे जीवन में प्रयोजन है।

4. ऋजुबुद्धेस्तु—अब प्रश्न है, ज्ञान किसको देना चाहिए? हिन्दी में कहते हैं ज्ञान की खैरात मत करो। संस्कृत में कहा है कि विद्या ब्राह्मण को कहती है, मुझे द्वेष करने वालों के हाथ में मत दो। गीता-ज्ञान का अधिकारी वह है, जो ऋजुबुद्धिवाला है। अर्जुन शब्द भी उसी से बना है। आँख हमेशा सीधी ही जायेगी, सूर्यकिरण भी सीधी ही जायेगी। तो बुद्धि के लिए चक्षु को गुरु बनायें।

5. छंदसि बहुलम्—पाणिनी के व्याकरण के इस सूत्र को हमने भिन्न अर्थ में इस्तेमाल किया है। यहां **छंदसि** का अर्थ है वेद, अध्यात्मविद्या। छद् यानी ढाँकना। वेद ढँके हुए हैं इसलिए उन्हें छंदस् कहते हैं। तो छंदसि यानी अध्यात्मविद्या। 'छद्' का दूसरा अर्थ है 'रचना करना'। उस

पर से काव्य को 'छंद' कहा जाता है। जब हम वेद का अर्थ करते हैं, तब किसी एक ही अर्थ का आग्रह नहीं रखना चाहिए। **बहुलम्** यानी विविध। **छंदसि बहुलम्** यानी विविध अर्थवाला वेद या अध्यात्म। आध्यात्मिक अनुभवों में बहुविधता की गुंजाइश होती है, इसलिए अन्योन्य विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए। बल्कि उन विविध अनुभवों का समन्वय करना चाहिए। समन्वय से ज्ञान बढ़ता है, भेद से नहीं।

6. देहेन स्वधर्मः—हम सब में एक देह-अंश है और एक आत्मांश है। देह से स्वधर्म पालन करना यह देह-अंश के लिए बताया।

7. मुक्तात्मा—और मुक्तात्मा रहना होगा। आत्मा को ध्यान में रखकर मुक्तता से विचरण करें और उधर देह से स्वधर्म का पालन करें।

8. युक्त्या समन्वयः—युक्ति से समन्वय करना है। कैसी युक्ति यह सूत्र नहीं कहेगा। हमको सोचना होगा। परमार्थ के सभी साधनों का समन्वय साधना है, यानी ज्ञान, ध्यान, भक्ति, कर्म का समन्वय। जिससे कि 1. साधना का विरोध नहीं रहेगा, 2. साधना में भिन्नता होगी, 3. सर्व साधना एकरूप होगी।

9. भक्त-जनेषु—यह युक्ति आपको भक्तजनों में दीख पड़ेगी। युक्ति यानी फलत्याग की युक्ति। वह युक्ति सीखने के लिए संतों के पास जाना होगा।

10. ततः प्रज्ञालाभः—उससे प्रज्ञालाभ होगा यानी आप स्थितप्रज्ञ बनेंगे।

11. कर्मयोगोऽनंतफलः—कर्मयोग में अगर फलत्याग की युक्ति अपनायी तो अनंत फल मिलेगा। थोड़ा-सा देने से अनंत का लाभ होगा। दरवाजा खोलकर अंदर की थोड़ी हवा बाहर जाने देंगे तो बाहर की अनंत हवा अंदर आयेगी। दो हाथ से देना, हजार हाथ से लेना। फलत्याग तो investment है। बड़ी भारी पूंजी है।

12. बहुविधप्रेरणैः—एक-एक कर्म की बहुत प्रेरणाएं होती हैं। जैसे हमारी यात्रा चल रही है, उसका एक उद्देश्य है कारुण्य, लेकिन और भी बहुत प्रेरणाएं हैं। तो कर्म की प्रेरणाएं अनंत होती हैं और जब अनेक प्रेरणाएं होती हैं तब कर्म शक्तिशाली बनता है।

13. जितांतरायस्य—अंतराय यानी विघ्न जिसने जीत लिये हैं उसको यह सधेगा। अंतराय कौन-से उसकी यहां चर्चा नहीं। असम के संत माधवदेव 'नामघोषा' में कहते हैं—मद, मोह आदि सारे अंतराय हैं और जिस गुरु में ये सब दोष नहीं उसके ही पैर पकड़ेंगे।

14. विकर्मणा संधानम्—संधान यानी जोड़ना। आजकल अनुसंधान शब्द चला है। यहां सीने की उपमा दे सकते हैं। कर्म कटा हुआ होता है तो विकर्म से उसका संधान करना चाहिए।

15. ततः स्फोटः—दियासलाई कर्म है और विकर्म यानी घिसने की क्रिया करते हैं तो ज्योति उत्पन्न होती है। ज्योति प्रकट होने के लिए विकर्म चाहिए। स्फोट यानी प्रकाशन, एक विशेष शक्ति का आविर्भाव।

16. सच्छरणस्य—स्फोट की विद्या सीखने खास वैज्ञानिक के पास जाना होगा। कौन हैं वे वैज्ञानिक ? सत्पुरुष अध्यात्म-मार्ग के वैज्ञानिक हैं। जो सत्पुरुष के चरण में हैं उनको वह विद्या सधेगी।

17. कर्ममातृकमकर्म—कर्म ही अकर्म की माता है। यानी कर्म में से अकर्म उत्पन्न होता है। सूत्रकार **कर्मजं अकर्म** कह सकता था किन्तु उसे और भी कुछ ज्यादा सूचित करना है इसलिए 'कर्ममातृकम्' कहा है। 'कर्ममातृकम्' कहा यानी बच्चा अपनी मां को मार नहीं सकता, उसी तरह अकर्म कर्म को मार नहीं सकता। यदि वह अपने आप मर जाये तो मरने देगा।

18. द्विरूपं तु—अकर्मदशा दुहरी होती है।

19. व्यक्तलिंगम् एकम्, 20. अव्यक्तलिंगम् अपरम्—एक है व्यक्तलिंग और दूसरा है अव्यक्तलिंग। व्यक्तलिंग यानी जिसका ज्ञान व्यक्त है। जैसे कि शुकदेव। अव्यक्तलिंग यानी जिसका ज्ञान अव्यक्त है, जैसे की जनक। व्यक्तलिंग का दूसरा अर्थ है, व्यक्तरूप से कार्य कर रहा है लेकिन अंदर से अकार्य है। और अव्यक्तलिंग का अर्थ है कि बाहर से कुछ काम नहीं करता दीखता लेकिन अंदर से बहुत काम कर रहा है। राम को वसिष्ठ ने ऐसा ही उपदेश दिया है—

अंतस्त्यागी बहिःसंगी लोके विचर राघव।

21. अनिर्वचनीयमुभयम्—ये दोनों, व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग अनिर्वचनीय हैं। शब्द से उन्हें स्पष्ट नहीं कर सकते।

22. बिंदुदेवतादिवत्—इन दोनों की निश्चित व्याख्या नहीं कर सकते। लेकिन दोनों हैं, यह निश्चित है। जैसे हमें बिन्दु की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि बिन्दु को लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई नहीं होती है। लेकिन जब उसे फलक पर दिखाते हैं तो कुछ परिमाण में लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई आ ही जाती है। बिन्दु की व्याख्या नहीं हो सकती, लेकिन भूमितिशास्त्र में उसकी जरूरत है। उसके बिना भूमितिशास्त्र नहीं चलेगा। वैसे देवता की भी कुछ व्याख्या नहीं है, लेकिन देवता है, यह निश्चित है। बिन्दु और देवता की तरह ये व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग उभयरूप हैं। इनकी स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते।

23. शुकजनकयोरेकः पंथाः—नाम भिन्न हैं लेकिन ये दोनों एकदम भिन्न नहीं हैं। दो दीखते हों तो भी शुक और जनक का सच में एक ही पंथ है।

24. वैशेष्यं तु—कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म—दो बातें कहीं इसमें अकर्म में कर्म सभी को सधता नहीं। लेकिन कर्म में अकर्म की बात विशिष्ट है, क्योंकि लोग उसे आदर्श के तौर पर अपना सकते हैं।

25. आरोढुमिच्छेत्—'आरोढुम्' यानी चढ़ने की इच्छा करते हैं, जिज्ञासा रखते हैं।

26. एकाग्रतया—जिज्ञासा तो है लेकिन दूसरी-तीसरी वासनाएं भी हैं। वे नहीं होनी चाहिए। एकाग्रता से काम में लगना चाहिए। कोई काम पूर्ण नहीं होता इसका अर्थ यही है कि अन्य वासनाएं काम को पूर्ण नहीं होने देतीं।

27. साभीष्टा शुद्धिपूर्विका—लेकिन सिर्फ एकाग्रता से नहीं चलेगा। रावण में भी कम एकाग्रता नहीं थी। एकाग्रता के पूर्व चित्तशुद्धि होनी चाहिए। चित्तशुद्धि होगी तो एकाग्रता सहज सधेगी। 'अभीष्टा' यानी चाहना, इच्छा। इच्छापूर्वक और शुद्धिपूर्वक एकाग्रता होनी चाहिए।

28. गणितं सहकारि—एकाग्रता साधने में गणित की बड़ी सहायता होती है। दूसरे-तीसरे आंतरिक साधन भी सहाय करते ही हैं, लेकिन बाह्य साधनों में गणित बहुत उपयोगी है। खाना-पीना-सोना, सब को परिमाण संभालकर करने से चित्तशुद्धि साधने में मदद मिलेगी। उससे चित्त शांत रहेगा। तरंगें नहीं उठेंगी।

29. साम्येन मंगलम्—सारी दुनिया में मंगल ही मंगल देखना चाहिए। अमंगल देखने से चित्तशुद्धि नहीं होती। समदृष्टि, मंगलदृष्टि से दुनिया की ओर देखें।

30. बालवत्—बालक जैसे सारी दुनिया में मंगल देखता है वैसे मंगल देखें। बालक को सब मंगल दिखायी देता है, उसे सब पर विश्वास होता है। वह अपने सोने का कड़ा देकर एकदम विश्वास और श्रद्धा से मिठाई लेता है।

31. श्रद्धयोपेतस्य—मंगल देखने के लिए सब पर विश्वास होना चाहिए। सिंह दूसरों की हिंसा करता है, इसलिए वह चलते हुए बार-बार पीछे देखते रहता है। पक्षी भी अपना घोंसला छोड़कर कहीं शांत नहीं बैठते। उनको भी डर लगता है कि कहीं कोई फंसायेगा तो नहीं। बगुले मछली पकड़ते हैं, तो उनको अपने जीवन के लिए भी अश्रद्धा रहती है। एकाग्रता और चित्तशुद्धि के लिए श्रद्धा जरूरी है।

32. मायिनो ग्रहणेन—मायिन् यानी भगवान। 'मायिनः ग्रहणेन' यानी भगवान द्वारा ग्रहण किया हुआ। भक्त श्रद्धा से देखता है कि सारा जगत् भगवान से ग्रहीत हुआ है।

33. भक्तिरसं लब्ध्वा—दुनिया में सब जगह भगवान है, यह अनुभव कैसे आयेगा? भक्तिरस प्राप्त करने से। दुनिया नाचीज है, मिथ्या है, यह भी इससे समझ सकते हैं।

34. काम्यं क्षम्यं हरिस्पर्शात्—वैसे तो गीता निष्काम कर्म ही सिखाती है। निष्कामता ही गीता का ध्येय है। लेकिन थोड़ा ढीला छोड़कर गीता कहती है कि काम्य कर्म भी यदि हरि के स्पर्श से, हरि को समर्पण करके किया जाये तो वह क्षम्य है। माधवदेव ने भी नामघोषा में कहा है **सकाम होवय वा जदि निष्काम होवय।** वैसे तो सकामता नहीं ही चाहिए। लेकिन मानो लोहे की हथौड़ी से पारसमणि का टुकड़ा करने का सोचा जाये तो वह हथौड़ी ही सोना हो जायेगी।

वैसे हरि-स्पर्श से सकामता निष्कामता में परिणत हो जायेगी। वास्तव में तो गीता निष्काम कर्म को ही मान्यता देती है।

35. निष्कामाश्चतुर्विधा:—निष्काम भक्त चार प्रकार के होते हैं। निष्काम यानी कामनारहित। सकाम यानी कामना रखने वाले। दुनिया के लोगों के पास कामना न रखें। बेहतर है, ईश्वर के पास कामना रखें। जैसे कि कोई बीमार कहे, 'हे भगवान्, मुझे ठीक करिए'।

36. शुभं शनैः संचिनुयात्—शुभ का धीरे-धीरे संचय करना चाहिए। जहां भी शुभ देखा, ले लिया। लेकिन वह सतत होना चाहिए। 'सातत्ये नित्यर्थः।'

37. मृति-स्मृतिः शुद्धये—मृत्यु की स्मृति रखें। क्यों? शुद्धि के लिए। शुभ का संग्रह करना है। मृत्यु होगी यह सोचने पर शुभ का संचय होगा।

38. तद्भावभावितः—भावना करना वैद्यकशास्त्र का शब्द है। उसका अर्थ है घोंटना। तद्भाव यानी ब्रह्मभाव का भावन करते हुए, मृत्यु की स्मृति अंतःशुद्धि के लिए रखें।

39. संनद्धश्च—शुद्धि के लिए तद्भावभावित और संनद्ध रहना चाहिए। संनद्ध यानी कसे हुए। हमेशा तैयार। एक क्षण भी गाफिल मत रहो। मरणपर्यंत सावध रहने की बात यहां कही है। **संनद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा**—ऐसा रामरक्षा स्तोत्र में राम का वर्णन है। वनवास के चौदह बरस राम संनद्ध रहे।

40. आप्रायणात्—मृत्युपर्यंत सावध रहो।

41. प्रात्यक्षिकी—यह विद्या प्रत्यक्ष है। नगद धर्म है। गुड़ अभी खाया और 50 वर्ष के बाद मीठा लगा, ऐसा इसमें नहीं है।

42. सुसुखं कर्तुम्—सुसुखं यानी सुलभ। यह विद्या सुलभ है, सहजप्राप्य है। सिर्फ इच्छा चाहिए। इच्छा न हो तो चारा नहीं। आठवें अध्याय में हमेशा के लिए कसकर रहने की बात बतायी। वह सबको सधना कठिन है। इसको **सुसुखं कर्तुम्** बताया, यानी इसमें सामान्य लोगों का भी

प्रवेश हो सकता है। **तुका म्हणे सोहे आहे सर्वांहुनी**—सबसे सहज है यह। लेकिन इच्छा हो तो न?

43. अधिकार-सामान्यात्—इच्छा हो तो सामान्य को भी अधिकार है। जैसे वोट देने का सबको अधिकार है, सिर्फ 21 साल की उम्र चाहिए। वैसे इसमें सिर्फ इच्छा चाहिए। लेकिन इच्छा भी ऐसे ही थोड़े होती है, पूर्वजन्म का कुछ सुकृत चाहिए। **बहुतां सुकृतांची जोडी। म्हणुनी विठ्ठलीं आवडी**—ज्ञानदेव कहते हैं, बहुत पुण्य किये तब विठ्ठल पर प्रेम उत्पन्न हुआ है। मार्ग सुलभ बना दिया, रास्ता भी अच्छा है, लेकिन जाने की इच्छा हो तब न? ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शंकराचार्य ने अधिकार-चतुष्टय बताकर मामला कठिन बनाया है। लेकिन वे शंकर थे। उनके हाथ में संन्यासी का दंड था। यह गीता माता है। सब पर प्यार करती है। इसलिए सुलभ मार्ग बताती है।

44. समर्पणेन योगः—सिर्फ समर्पण से यह योग सधता है। ध्यानयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, इन सबसे सहज यह समर्पणयोग है। सब समर्पण करना चाहिए। फटे कपड़े हों तो वे भी समर्पण करो। श्रद्धा से समर्पण करो।

45. क्रियाविशेषनपेक्षः—अर्पण करने के लिए विशेष क्रिया चाहिए ऐसी बात नहीं। सामान्य क्रिया भी ईश्वरार्पण करें।

46. व्यापकत्वात्—विशेष क्रिया की अपेक्षा नहीं, क्योंकि यह व्यापक है। यदि संकुचित धर्म-पंथ होंगे तो सोचेंगे कि यह नहीं खा सकते, वह नहीं पहन सकते। यह तो व्यापक है, इसलिए क्रियाविशेष के साथ बांधता नहीं।

47. अकुतोभयम्—इस मार्ग में कुछ भी भय नहीं।

48. स्वल्पेनापि—थोड़ा-सा करने से भी ईश्वर को तृप्ति होती है। गीता कहती ही है,—**पत्रं पुष्पं फलं तोयं**—जो भी हो मुझे अर्पण कर सकते हो। मुख्य बात है, समर्पण चाहिए।

49. क्रमेण प्रतिपत्तिः—यह विद्या क्रम-क्रम से प्राप्त होगी। एकदम पूर्णदर्शन नहीं होगा। पहले स्थूल रूप में भगवान का दर्शन होगा, बाद में सूक्ष्म रूप में।

50. स्थूलात् सूक्ष्मं प्रपद्ये—स्थूल में से सूक्ष्म में जाना है। उसका क्रम भी आगे के सूत्रों में खुलते हैं।

51. मानुषं सौम्यम्—सौम्यरूप मानव में परमात्मा देखना है। वैसे देखा जाये तो जहां सौम्यता है, वहीं मानवता है। सौम्यता नहीं है वहां थोड़े तो भी अंश में पशुता है, यह मान्य करना होगा।

52. सृष्टौ रम्यम्—बाद में सृष्टि में रमणीयरूप में देखें।

53. प्राणिषु चित्रम्—और प्राणियों में भी 'चित्रम'—चित्त को आकर्षित करने वाला भाव दीखेगा। चित्रम् का दूसरा अर्थ है, विविधता, विचित्रता।

54. दुरात्मसु चिंत्यं तदेव—आखिर का यह टप्पा कुछ कठिन है। दुरात्माओं में भी भगवान है, ऐसा सोचते तो हैं, लेकिन वह भगवान जल्दी से दिखायी नहीं देता। जैसे पानी पर काई छायी हुई हो तो उस काई को दूर करके अंदर का स्वच्छ निर्मल पानी लेते हैं। वैसे दुरात्मा में छिपे हुए भगवान को चिन्तन करके खोजना पड़ेगा।

55. कृत्स्नं न कामयेत्—पूरे की इच्छा नहीं करनी चाहिए। पूरा मिलेगा ही—लेकिन कामना मत करो। पूरा लड्डू मुख में जायेगा भी नहीं। और,

56. अंशुऽपि समावेशात्—अंश में भी भगवान रहता है। अंश में भी वही भगवान है, तो पूर्ण की क्या जरूरत है? अलावा,

57. अनधिकृतत्वाच्च—हमारा अधिकार भी कहां है? पूरा लड्डू हमारे गले में जायेगा नहीं, हमारा गला ही छोटा पड़ेगा। इसलिए पूरे की कामना मत करो।

58. मत्कर्मादौ तात्पर्यम्—ग्यारहवें अध्याय का आखिरी श्लोक है **मत्कर्मकृत्**...। उस श्लोक को ध्यान में रखकर यह सूत्र लिखा गया है। तात्पर्य है, मुझे ही सबकुछ अर्पण करो। जो कुछ मिले, मुझे अर्पण करो।

59. एकाग्रं च समग्रं च—बारहवें अध्याय में निर्गुण ब्रह्म और सगुण परमात्मा की उपासना करनेवालों की तुलना है। उपासना दो प्रकार से होती है। एकांगी यानी एकाग्र और सर्वांगी या समग्र। दोनों तरह के दर्शन होने चाहिए। कोई भी एक ही होगा तो मनुष्य दुर्बल रहेगा। एकाग्र को सगुण और समग्र को निर्गुण कह सकते हैं। एकांगी उपासना में गहराई होगी, सर्वांगी में समग्रता होगी। दोनों चाहिए। सर्वांगी दर्शन को शास्त्र में **कुक्कुटमिश्रपादः** कहते हैं। मुर्गा चलेगा तो कभी सीधा नहीं चलेगा, इधर-उधर मुड़कर ही चलेगा। सर्वांगी दर्शन में भी थोड़ा यहां का, थोड़ा वहां का ऐसे सब जगह का थोड़ा-थोड़ा हो सकता है। जरा-सी चटनी, जरा-सी रोटी, ऐसा थोड़ा-थोड़ा देने से पेट नहीं भरेगा। और सिर्फ एकाग्र रहेंगे तो **कूपमंडूकवत्** हो जायेंगे। इसलिए गहरा भी जाना चाहिए, व्यापक भी होना चाहिए। पानी खूब गहरा है, लेकिन एक उँगली जा सके उतना ही व्यापक है, तो क्या काम आयेगा? वैसे पानी लम्बा-चौड़ा फैला है, किन्तु गहराई दो अंगुल ही है, तो भी मच्छर होंगे और बदबू आयेगी। इसलिए एकाग्रता यानी गहराई भी चाहिए और समग्रता यानी व्यापकता भी चाहिए।

60. तुल्यं तु—सगुण और निर्गुण उपासना में कोई ऊंच-नीच भेद नहीं, दोनों समान हैं, तुल्य हैं।

61. सगुणं साधकं देहभृत—देहभृत यानी देहधारी के लिए सगुण उपासना 'साधक' होती है, यानी प्राप्त कर सके वैसी होती है।

62. बाधकं तदप्यमर्यादम्—वह भी अगर मर्यादा के बाहर जाये तो बाधक होगी। जैसे कि मूर्तिपूजा कुछ भूमिका तक अच्छी है। लेकिन मर्यादा छोड़ दी और उसमें बलिदान, जातिभेद का प्रवेश हुआ तो वह भक्तिमार्ग में बाधा निर्माण करेगी।

63. बोध्यं रामानुजयोर् दृष्टांतेन—रामानुज—राम के अनुज। राम के दो छोटे भाई थे, लक्ष्मण और भरत। उनके दृष्टांत से यह जान सकते हैं। लक्ष्मण था सगुण और एकाग्र उपासक। भरत था निर्गुण और सर्वांगी उपासक। यह रामायण का दृष्टांत हुआ। दूसरा भागवत का दृष्टांत है—

64. कृष्णसखयोश्च—'कृष्णसखयोश्च दृष्टांतेन अपि बोध्यम्'—कृष्ण के दो सखा, उद्धव और अर्जुन, उनके दृष्टांत से भी यह जान सकते हैं। सुदामा कृष्ण का सहपाठी था, सखा नहीं। जो जीवनभर साथ काम करते हैं, उनको सखा कहते हैं। उसी अर्थ में उद्धव और अर्जुन कृष्ण के सखा थे। सुदामा तो अपने को कृष्ण का दास समझता था।

65. आत्मप्रतीतेरभेदः—यहां सूत्रकार ज्यादा वाद नहीं करना चाहता यह दिखायी देता है। सूत्रकार को सगुण-निर्गुण के बारे में ज्यादा चर्चा नहीं चाहिए। आत्मप्रतीति से दोनों का अभेद मालूम होगा इसलिए आत्मप्रतीति करो। और,

66. अमृतं पर्युपास्यम्—अमृत का सेवन करो। गीता में **धर्म्यामृतं इदम्** कहा है। भक्त-लक्षण को लक्ष्य करके अमृत शब्द का व्यवहार किया गया है। उस अमृत का सेवन करो।

67. शरीरात् प्रवृहेत्—शरीर को अपने से अलग करो। यदि हम अपने को शरीर से अलग नहीं करेंगे तो—

68. अन्यथा संस्कारासंभवः—सुधार नहीं होगा। 'संस्कार यानी सुधार, न कि धार्मिक विधि। गुजराती-मराठी भाषा में संस्कार यानी विधि, जबकि बंगाली-असमिया भाषा में संस्कार यानी सुधार। यदि शरीर को अपने से अलग नहीं किया, तो सुधार नहीं होगा। कोई कहता है अरे गंदा।' तो हम चिढ़ जाते हैं। अपने को साफ करना तो बाजू पर रह जाता है। चिढ़ जाने से कोई कहेगा—'अरे क्रोधिष्ठ |' तो ये हैं शरीर-मन के दोष। वैसे कोई बुद्धि का दोष दिखाये तो अपने को बुद्धि से अलग करके देखना चाहिए कि वास्तव में यह दोष हमारे में हैं या नहीं। यदि हैं तो दूर करें, नहीं तो कुछ नहीं।

69. क्लिष्ट जीवितं च—यदि ऐसा नहीं करेंगे तो जीवन क्लिष्ट होगा, मलिन होगा। हम गुलाम बन जायेंगे और हर कोई हमारा मालिक बन जायेगा। सबसे पहले हमारा शरीर ही हमारा मालिक बन बैठेगा और हम उसके गुलाम बन जायेंगे। शरीर की सब क्लिष्टता—मलिनता हमको लगेगी। तो शरीर को अपने से अलग करने की प्रक्रिया सीखनी होगी।

70. महावाक्यमनुचिंतयेत्—इसके लिए सतत महावाक्यों का चिन्तन करना चाहिए। चार वेद के चार महावाक्य हैं—(1) अहं ब्रह्मास्मि (2) तत् त्वमसि (3) अयमात्मा ब्रह्म (4) प्रज्ञानं ब्रह्म। इन वाक्यों का सतत चिन्तन करना चाहिए।

71. ततः शासनमुक्तिः—तभी शासनमुक्ति होगी। महावाक्यों का चिन्तन करते हुए कुछ हद तक देह को अपने से अलग कर सकेंगे तो देह के शासन से उतने अंश में मुक्त होंगे। एक भाई ने मुझे कहा था कि आपकी यह दान-बान की बात ठीक है, मुख्य तो एक बार पूंजीवादी की पूंजी खतम करना होगा। तब मैंने कहा था कि सबसे बड़ी पूंजीवादी तो हमारी देह ही है। प्रथम उसे खतम करना होगा। लालन-पालन से बड़ी हुई देह हमको नीचे खींचती रहती है। जरा हम ऊपर गये कि उसने नीचे खींचा ही! इसलिए पहले शरीर की अधीनता छोड़नी होगी, तभी शासनमुक्ति होगी। लेकिन यह होगा कैसे ?

72. आत्मशक्तेर् भानात्—यह होगा आत्मशक्ति के भान से। आत्मशक्ति का भान होगा तब 'आविः' यानी प्रकट होगा। उत्तरोत्तर ईश्वर के निकट जायेंगे तो ज्योति प्रकट होगी।

74. विंशत्या—बीस से ज्योति प्रकट होगी। बीस यानी नम्रता आदि बीस गुण (13.7 से 11)। ये सारे ज्ञान के लक्षण कहे जायेंगे। सब कैसे समझ सकेंगे कि ये बीस गुण हैं? सूत्रार्थ अगर सहज समझ में आ जाये तो उसे सूत्र कैसे कहेंगे? सूत्रकार के मन में क्या अर्थ है यह साधारणतया गुरु-परम्परा से प्रकट होगा।

75. प्रकृतिः शोध्या—प्रकृति का शोधन करना चाहिए। यह वैद्यकीय परिभाषा है। बीमार हुए तो तुरन्त प्रकृति का शोधन करना चाहिए। प्रकृति अच्छी है कि खराब है? प्रकृति में सत्त्व है, रज है कि तम है?

76. श्रमसंजात-वारिणा—प्रकृति को शुद्ध करने के लिए पर्याप्त श्रम करना चाहिए। श्रम से उत्पन्न पानी यानी पसीना बहाना चाहिए। नहीं तो **मूर्खस्य शरीरं वर्धते न ज्ञानं** जैसा होगा। जवानों को तो खूब काम करना चाहिए। दिन के 24 घंटे हैं तो हमारे सामने 25 घंटों का काम होना चाहिए। जवानी में इतना काम करना चाहिए कि बिस्तर पर पड़ते ही नींद आ जाये।

77. यन्ति प्रमादमतंद्राः— 'श्रम-संजात-वारिणा' और 'यन्ति प्रमादमतंद्राः' ये दोनों तमोगुण को दूर करने के सूत्र हैं। **यन्ति** यह वैदिक रूप है। उसका अर्थ है 'भागते हैं'। अतंद्रा यानी सावधानता। जीवन में सावधानता रही तो वह प्रमाद को भगाती है।

78. वेगस्य शमनं स्वधर्मेण—वेग का शमन स्वधर्म से होता है। कोई भी वेग आया तो स्वधर्म का आचरण करके उसको शांत कर सकते हैं। वाग्भट ने कहा है कि **न वेगान् धारयेत्**। संस्कृत साहित्य में कहा है कि काम-क्रोध के अलावा दूसरे वेगों को रोकना नहीं चाहिए। यानी मल-मूत्र के वेग को रोकना नहीं चाहिए और काम-क्रोधादि को रोकना चाहिए। आजकल के मानसशास्त्रज्ञ कहते हैं कि काम-क्रोधादि किसी भी वेग को रोकना नहीं चाहिए—सप्रेशन, दबाना नहीं चाहिए। किन्तु तब तो हम मन से अलग हो ही नहीं सकते। वे कहते हैं कि उस पर rational control होना चाहिए। अब यह जो rational control की बात है, वह होगी तो काम-क्रोध ही नहीं होंगे।

79. स्वाभाविकत्वात्—वेग का शमन स्वधर्म से होगा। क्योंकि वेग और स्वधर्म दोनों स्वाभाविक हैं। तो स्वाभाविक वस्तुओं का शमन एक-दूसरे से होता है। स्वाभाविक वेगों का स्वाभाविक स्वधर्म में विनियोग। 78-79 दोनों सूत्र रजोगुण को दूर करने का उपाय बताते हैं।

80. सत्त्वस्य सत्त्वेन—सत्त्वगुण को सत्त्वगुण से ही हटाना चाहिए।

81. भक्त्यैव तु निस्तारः—भक्ति ही इन सबके लिए निस्तार है। 'एव' शब्द पक्षपात बताता है।

82. पुरुषकारात् भक्तिरभिन्ना—पुरुषकार यानी प्रयत्न। प्रयत्न से भक्ति अभिन्न है। यानी दोनों एक ही हैं। तो फिर दोनों में भेद क्या है?

83. तया स सुकरः—तया यानी भक्त्या। भक्ति से वह (प्रयत्न) 'सुकर', सुलभ होता है। यह है दोनों का भेद।

84. त्रैतं सेवार्थम्—संस्कृत भाषा में 'द्वैत' शब्द है। लेकिन त्रैत नहीं है। सूत्रकार ने यह नया शब्द बनाया है।

85. सैवं भक्तिरनहंकृता चेत्—यदि वह भक्ति अनहंकृता हो तो वह सेवा के उपयोग में आती है। सेवा में अहंकार नहीं होना चाहिए।

86. ज्ञानं समरसम्—समरसता ज्ञान है। ज्ञान यानी आत्मज्ञान।

87. अत्र वेदार्थ: परिसमाप्तः—यहां वेदार्थ खतम हो गया। वेदार्थ समाप्त होने पर कुछ रहता ही नहीं।

88. एषा दिवो दुहिता—यह आये दिन की पुत्री यानी उषा। सूर्य के आगमन के पहले जो प्रकाश होता है उसे उषा या आभा कहते हैं और आगमन के बाद जो प्रकाश आता है उसे प्रभा कहते हैं। तो यह ज्योतिरूपी उषा आ गयी।

89. सदसती पस्पृधाते—सत् और असत् की स्पर्धा हमेशा होती रहती है। दुनिया में भी ऐसा माना जाता है।

90. चतुष्पर्वाण्युत्तरोत्तरम्—चार उत्तरोत्तर पर्व हैं। उत् यानी ऊंचा, उत्तर यानी उससे ऊंचा। ऐसे चार उत्तरोत्तर पर्व हैं। यह सूचक सूत्र है। पर्वत पर चढ़ते हैं तो लगता है बस, अब इतना ही ऊंचा है तो चढ़ जायेंगे। लेकिन वहां पहुंचते हैं तो और एक शिखर दीखता है। ऐसे उत्तरोत्तर पर्व चढ़ना है।

91. अपूर्व मानवस्य—यह आरोहण दुःख की बात नहीं है। यह तो मानव का अपूर्व भाग्य ही है कि उसको ऐसा चढ़ने का मौका मिलता है।

92. स्वाम्यादि परिहरेत्—स्वामित्व आदि छोड़ना होगा, छोड़ना चाहिए।

93. शास्त्रीय संयमेन—यह छोड़ना कैसे? तो कहते हैं, शास्त्रीय संयम से।

94. संयतेन स्वैरम्—खुद की इच्छा से अपने को संयमित करना चाहिए। दूसरा कोई भी हमको कहने के लिए नहीं आ सकता। खुद को ही खुद संयमित करें। अगर हम विचार में स्वैर रहना चाहते हैं, तो हमको आचार में संयत रहना पड़ेगा। अगर एक निश्चित रास्ते से घूमने का तय हो, तो आंख बंद करके मनुष्य चल सकता है और खूब स्वैर चिन्तन कर सकता है। जहां मनुष्य आचार में संयत रहता है, वहां उसको विचार के लिए बिलकुल स्वातंत्र्य है। अगर विचार-स्वातंत्र्य हम चाहते हैं तो उसके साथ आचार-नियमन आता है।

95. तदर्थ त्रिविधः—खुद को संयमित करने के लिए तीन विधियाँ हैं—यज्ञ, दान और तप। ये तीन सर्वसामान्य विधि हैं। अपने-अपने अनुभव के आधार पर मानव उसे बदल भी सकता है।

96. सात्त्विकं संपादयेत्—सात्त्विक विधि का संपादन करें, प्राप्त करें।

97. आहारशुद्धौ—आहारशुद्धि से।

98. सर्वेषामविरोधेन—सबके अविरोध से करें।

99. नाम्ना सादुण्यम्—सादुण्यम् यानी दोष-परिहार, अव्यंगता, निर्दोषता, परिपूर्णता लाना। आहारशुद्धि हुई, सबका अविरोध रहा। उसके बाद भी जो कुछ बाकी रह जाये उसे नाम-स्मरण से पूर्ण करें।

100. तद्धि पापापहारि—तत् यानी वह नाम ही पाप का हरण करने वाला है।

101. अथातस्त्यागमीमांसा—जब मैं घर छोड़कर निकला, तब मित्रों ने पूछा, क्यों जा रहे हो? तो मैंने कहा, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। तो जैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहते हैं, वैसे अब सूत्रकार कह रहे हैं 'अथातस्त्यागमीमांसा'।

102. निकषः सार्वभौमः—निकष यानी कसौटी। त्याग की कसौटी सार्वभौम है, यानी सारी दुनिया वह कर सकती है।

103. क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्—उपरम यानी क्षीण होना। क्रिया क्षीण होने से कर्म अधिक शक्तिशाली बनता है। एक बड़ी सभा को शांत रखने के लिए स्वयंसेवकों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। लेकिन लोगों का प्रिय नेता जैसे ही मंच पर आता है, सब लोग शांत हो जाते हैं। नेता की क्रिया एकदम कम हुई, लेकिन कर्म अधिक परिणामकारी हुआ।

104. अनेन स्वधर्मो विवृतः—स्वधर्मविवरण।

105. अष्टकं भावयेत्—आठ के बारे में चिन्तन करो। आठ क्या वह आप ही सोचिए। बीच-बीच में सूत्रकार का गणित-प्रेम प्रकट होता है।

106. काष्ठैव निष्ठा—काष्ठा यानी पराकाष्ठा—अंतिम स्थिति। यहां निष्ठा का श्रद्धा से कुछ मतलब नहीं। यहां निष्ठा यानी अंतिम स्थिंति।

107. तुरीयं त्रिकोणम्—तुरीय यह चतुर्थ अवस्था है। स्वप्न, जागृति, सुषुप्ति और तुरीय, ये चार अवस्थाएं हैं। तो तुर्य का त्रिकोण है। यहां भूमिति आयी।

108. अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात्—मुक्ति यानी अहं की मुक्ति। **अहंमुक्तिरेव मुक्तिः**—अहं की मुक्ति यही सच्ची मुक्ति है।

गायन-समाप्ति पर, शास्त्रीय पद्धति के मुताबिक अंतिम कड़ी दो बार बोलते हैं। वैसे यहां दो बार कहा, **अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात्**।

साम्यसूत्र-वृत्तिः

['गीता-प्रवचन' को विनोबाजी ने नित्य पठनीय कहा है। जैसे कि उनके अध्ययन की पद्धति रही है, उन्होंने पूरे ग्रंथ को 108 अधिकरणों में बाँटा है। और प्रत्येक अधिकरण को एक-एक सूत्र में गूँथ लिया है। उन 108 सूत्रों को उन्होंने 'साम्यसूत्र' कहा। अलावा, पूरे ग्रंथ के 432 परिच्छेदों को भी सूत्रमय स्वरूप दिया है। तो कुल 108+432 = 540 सूत्र हुए। इन पूरे सूत्रों को उन्होंने 'साम्यसूत्र-वृत्तिः' (वृत्ति = विवरण) कहा है।]

अध्याय 1

(1) अभिधेयं परम-साम्यम् 5

1 अथ गीतानुशासनम्
2 दीपस्तंभवत्
3 रामायण-भारतयोर् वैशिष्टयम्
4 व्यासमुनेर् मननसारः
5 कृष्णत्रयी

(2) संबंधेन 5

6 अर्जुनस्य भूमिका
7 वीरवृत्तिः
8 अहिंसकवत् भाषते एव
9 मोहांध-न्यायाधीशवत्
10 प्रज्ञावादः

(3) प्रयोजनवत्त्वात् 5

11 अर्जुनस्य संन्यासो न स्वधर्मः
12 परधर्मः श्रेष्ठ इति न ग्राह्यः
13 सुकर इति न स्वीकार्यः
14 भगवान् भक्त-सापेक्षः
15 मोहमोचनमेव प्रयोजनम्

(4) ऋजुबुद्धेस्तु 1

16 ऋजुबुद्धिरर्जुन:

अध्याय 2

(5) छंदसि बहुलम् 3

1 अर्जुनं निमित्तीकृत्य 2 नित्यनूतन-परिभाषा

3 'द' कारार्थवत्

(6) देहेन स्वधर्म: 2

4 स्वधर्म: सहज: सुकर: 5 देहबुद्धया तु दुष्करो भवति

(7) मुक्तात्मा 7

6 तत्त्वज्ञानं प्रथममावश्यकम् 7 नाहं देह:

8 देहो वस्त्रवत् 9 मरणशब्दमपि न सहते पामर:

10 आत्म-विस्तार: कर्तव्य: 11 आत्मा मोचनोत्सुक:

12 सारांशत्रयी

(8) युक्त्या समन्वय: 3

13 फलाशा त्यक्तव्या 14 समत्वं कुशलो गुण:

15 कर्मण्येवानंदनिर्झर:

(9) भक्त-जनेषु 4

16 तुकारामस्य दृष्टान्त: 17 पुंडलीकस्य च

18 'अपि' सिद्धान्त: 19 साधनैकपरता

(10) तत: प्रज्ञालाभ: 5

20 स्थितप्रज्ञलक्षणानि 21 नित्यं पठितव्यानि

22 संयंममूर्तिः 23 मत्पर:

24 जीवनशास्त्रं संपूर्णम्

अध्याय 3

(11) कर्मयोगोऽनंतफलः **7**

1 अकामिनं कांक्षते लक्ष्मी: 2 अहो भारभृतां त्याग: !

3 मंत्रितं कर्म 4 गुरुदक्षिणातुल्यम्

5 गंगास्नानादि-सदृशम् 6 भावनाभेदादंतरम्

7 विश्वेन सामरस्यम्

(12) बहुविध-प्रेरणै: 3

8 स्व-पर-यात्रार्थम् 9 चित्तस्य शुद्धये

10 आदर्श-स्थापनाय च

(13) जितांतरायस्य 2

11 प्रसादसेवनमानुषंगिकम् 12 अंतरायजय:

अध्याय 4

(14) विकर्मणा संधानम् 3

1 निष्कामता-सिद्धये चित्तं शोधयेत् 2 एतदर्थं विकर्म योजना

3 निष्कामकर्मणि विशेषणं वरीय:

(15) ततः स्फोटः **6**

4 मंत्रेण तंत्रे शक्ति: 5 भावेन सेवा सार्द्रा

6 विकर्मणा कर्मणि चैतन्यम् 7 रामेक्षणमिव

8 निरुपद्रवं भस्म 9 न भारो न श्रमः

(16) सच्छरणस्य **3**

10 विकर्मकला सत्संगेन 11 ज्ञानं निर्ग्रंथम्

12 अति-श्रुतस्य बुद्धिर् भ्रांता

अध्याय 5

(17) कर्ममातृकमकर्म **6**

1 गृहे वने संसारः समानः 2 राक्षसवत् यथेष्टाकारः

3 तज्जयाय विकर्मापेक्षा 4 कर्मणोऽप्युपकारः

5 गुहासीनस्य चित्तं क्षीणम् 6 अकर्मदर्शनमुभयसंयोगेन

(18) द्विरूपं तु **5**

7 अक्लान्तमेकम् 8 स्वेनाज्ञातम्

9 अगणितम् 10 प्रेरकमपरम्

11 सहजधर्मरूपम्

(19) व्यक्तलिंगमेकम् **3**

12 अकरणमपि कर्मप्रकार: 13 सुवर्णमंजूषान्यायेन

14 कर्मसातत्ये नैष्कर्म्यम्

(20) अव्यक्तलिंगमपरम् **2**

15 संन्यासो गूढशक्ति: 16 आसीनो दूरं व्रजति

(21) अनिर्वचनीयमुभयम् **3**

17 उभयकथा रम्या 18 सद्भि: सदा सेव्या

19 उदात्ता काव्यमयी

(22) बिंदु-देवतादिवत् **4**

20 दृष्टान्ता अपूर्णा: 21 अमूर्तस्य भावनं मूर्तौ

22 यथा भूमिति-शास्त्रे 23 यथा च मीमांसा-दर्शने

(23) शुकजनकयोरेक: पंथा: **4**

24 एकैव गुरु-परंपरा 25 शुकस्य ज्ञाननिष्ठा

26 ज्ञानिनोऽस्तित्वमेव स्फूर्ति: 27 वेगचालितं यंत्रं स्थिरं भासते

(24) वैशेष्यं तु **5**

28 सौकर्येण विशिष्यते कर्मयोग: 29 सगुणोपासनवत्

30 प्रयत्नावकाशात् 31 अलिखित-पठनं तु संन्यास:

32 केवलं निष्ठैव

अध्याय 6

(25) आरोढुमिच्छेत् **3**

1 अथ विवरणारंभ: 2 गीता व्यवहार-शोधनाय

3 उच्चाकांक्षायामेव ध्यानादि-
प्रयोजनम्

(26) एकाग्रतया **4**

4 एकाग्रता प्राथमिकी

5 रणांगणेऽपि

6 न ज्ञातं शल्यमुद्धृतम्

7 वृद्धोऽपि तरुणायते

(27) साभीष्ठा शुद्धिपूर्विका **5**

8 अंतश्चक्रं निवर्तयेत्

9 क्षुद्र-विषयेषु ज्ञानशक्ति न क्षपयेत्

10 शून्यमनेकं च वर्जयेत्

11 जीवनं शोधयेत्

12 परदोषं न पश्येत्

(28) गणितं सहकारि **3**

13 युक्तं जीवेत्

14 आवृत्तचक्षु:

15 नातिमात्रं तु भुंजीत

(29) साम्येन मंगलम् **7**

16 मंगलायतनं हरि:

17 विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा:

18 रामदासयोर् मतभेद: !

19 सृष्टिर् मातृसमा

20 अतिष्ठन्तीनाननिवेशनानाम्

21 हिमालयो हृदि स्थित:

22 समुद्रादूर्मिर् मधुमानुदारत्

(30) बालवत् **2**

23 बलवान् बाल:

24 श्रद्धामूर्ति:

(31) श्रद्धयोपेतस्य **4**

25 धनर्णयोगेन परिपूर्णता

26 रसतमास्वादने नीरसमन्यत्

27 योगसंस्कारो न नश्यति 28 ज्ञानदेव-कथने विशदम्

अध्याय 7

(32) मायिनो ग्रहणेन **4**

1 नूतनागारम् 2 द्विविधा प्रकृतिः

3 परमात्मा ग्रहीतव्यः 4 प्रपत्ति-योगेन

(33) भक्तिरसं लब्ध्वा **4**

5 भक्तिर् वास्तविको रसः 6 अन्ये रसा आभासिकाः

7 आनंदाभासं निर्मिमीते निरानंदः 8 रामरसं को जानाति?

(34) काम्यं क्षम्यं हरिस्पर्शात् **4**

9 अश्रुपुर्णो नामदेवः 10 व्रतपरायणा महिलाः

11 युधिष्ठिरस्य कुक्कुरः 12 भाविको यात्रिकः

(35) निष्कामाश्चतुर्विधाः **4**

13 आर्तः साधकः 14 जिज्ञासुः शोधकः

15 हितार्थी सेवकः 16 ज्ञानी परिपूर्णः

अध्याय 8

(36) शुभं शनैः संचिनुयात् **3**

1 संस्कारसंचयो जीवनम् 2 तच्छेषोऽल्पः

3 अंत्यस्मृतिर् बलीयसी

(37) मृति-स्मृतिः शुद्धये **8**

4 अंत्यस्मृत्यनुसारि पूनर्जन्म

5 एकनाथेन सूचितम्

6 पास्कलस्य प्रतिभा

7 कालापसारिणो विद्यार्थिनः

8 सुक्राताय समर्पणम्!

9 सर् वेषामनिवार्यम्

10 अद्यप्रभृत्येव चिंतनीयम्

11 पितामह्या: स्मृतितंत्रम्

(38) तद्भावभावितः **3**

12 सदा सावधानेन भाव्यम्

13 दैनिककर्तव्य-पूरितः

14 सत्-संस्कार-धारा

(39) संनद्धश्च **3**

15 अखंडभगवत्स्मृति:

16 निरंतरं युद्ध-प्रसंगः

17 निराशा नैव

(40) आप्रायणात् **3**

18 प्रयाणसाधनारूपकम्

19 रूपक-विवेचनम्

20 तच्चिंतनं पुनः पुनः

अध्याय 9

(41) प्रात्यक्षिकी **3**

1 प्रवचने जपभावना

2 नवमाध्यायमहिमा

3 पारत्रिकं को जानाति?

(42) सुसुखं कर्तुम् **5**

4 वेदसारामृतं गीता

5 वेदविचारो गहनः

6 अयं तु मुक्तमार्गः 7 न स्खलेन्न पतेदिह

8 हरिरेव जगत् जगदेव हरिः

(43) अधिकार-सामान्यात् 3

9 पापयोनीनामप्यधिकारः 10 व्यासस्य संमतम्

11 वधिकोदाहरणमात्यंतिकम्

(44) समर्पणेन योगः 5

12 सहानुभूति-रसायनम् 13 अपात्रं पात्रीभवति भावनेन

14 पात्रापात्रविवेकः सुबोधः 15 कामक्रोधौ समर्पितौ

16 इंद्रियाणि साधनानि

(45) क्रियाविशेषानपेक्षः 3

17 यशोदावत् बालसंगोपनम् 18 कृषकस्य वृषभसेवा

19 पाकयज्ञो गृहलक्ष्म्याः

(46) व्यापकत्वात् 9

20 पुरुषसूक्तेन स्नानम् 21 वस्त्रेव भद्रा सुकृता

22 पांथिको नारायणः 23 वाल्मीकि-परिवर्तनम्

24 वस्तुतो न कश्चित् दुष्टो नाम 25 मातृकथिता कृष्णार्पणकथा

26 विठ्ठल-मिश्रितं स्वादु 27 मधुरेणोत्थापयेत्

28 गुरुशिष्यावन्योन्यदेवते

(47) अकुतोभयम् 2

29 पापं बिभेति हरिनाम्नः 30 बालोऽपि श्मशाने निर्भयः

(48) स्वल्पेनापि 2

31 भावनाया मूल्यम् 32 ईश्वरार्पितमुप्तमिव

अध्याय 10

(49) क्रमेण प्रतिपत्तिः 4

1 अभितो ब्रह्मनिर्वाणम् 2 ध्यान-प्रपत्ति-सातत्यम्

3 राजविद्या राजगुह्यम् 4 बुभुक्षमाणो रुद्ररूपः

(50) स्थूलात् सूक्ष्मं प्रपद्ये 2

5 स्थूल-सूक्ष्म-सरल-कठिन-क्रमेण 6 सरलं न रोचते कठिनं न पच्यते

(51) मानुषं सौम्यम् 2

7 मातृपित्रादिषु सौम्यम् 8 बालकेषु च

(52) सृष्टौ रम्यम् 6

9 प्रदर्शनं पश्येम 10 आविर्कर् भुवनं विश्वमुषाः

11 सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश्च 12 भगवती भागीरथी दृश्यते

13 द्वाविमौ वातौ वातः 14 अग्निमीळे पुरोहितम्

(53) प्राणिषु चित्रम् 9

15 वाश्रा इव धेनवः स्यंदमानाः 16 प्रामाणिकः स्वामिनिष्ठोऽश्वः

17 अक्रूरः कृतज्ञः सिंहः 18 व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः

19 सत्संनिधौ निर्वैरः सर्पः 20 रामदूता वानराः

21 षड्जं रौति मयूरः 22 महिलानां कोकिलाव्रतम्

23 गोस्वामि-पूजितः काकः

(54) दुरात्मसु चिंत्यं तदेव **1**

24 स्तेनानां पतये नमो नमः

अध्याय 11

(55) कृत्स्नं न कामयेत् **5**

1 किं नाम विश्वरूपम् ? 2 अनंतं ब्रह्मांडम्

3 निरवधिः कालश्च 4 सखैतत् द्रष्टुमिच्छति

5 तस्मै दिव्यदृष्टिर् दत्ता

(56) अंशेऽपि समावेशात् **4**

6 बिंदु-सिंधु-न्यायेन 7 मूर्तिपूजा-रहस्यम्

8 उपमारूपकादि-स्वारस्यम् 9 उपमान-विस्तारः

(57) अनधिकृतत्वाच्च **4**

10 दिव्यदृष्टिरपि भीतः 11 कालविस्मरणं तारकम्

12 सामीप्ये नाधिकारः 13 चरण-सेवा पर्याप्ता

(58) मत्कर्मादौ तात्पर्यम् **3**

14 विश्वगीतं गेयम् 15 सव्यसाचि-कार्यम्

16 सर्वसारं सेव्यम्

अध्याय 12

(59) एकाग्रं च समग्रं च **2**

1 इदं तु धर्म्यामृतम्

2 ध्यानादि-दर्शनान्तं विवृतम्

(60) तुल्यं तु **5**

3 इदानी कः प्रियतर इति पृच्छा

4 मातृ-हृदयं किं वदेत् ?

5 तथैव स्थितिरभूत् भगवतः

6 योगि-संन्यासि-सदृशम्

7 सौलभ्येन समाधानम्

(61) सगुणं साधकं देहभृतः **5**

8 मार्गः साधको बाधको दृष्टिसापेक्षः

9 सगुणं सेवामयं सुलभम्

10 निर्गुणं चिंतामयं कठिनाम्

11 ज्ञानमक्षमं सूक्ष्म-शोधनाय

12 प्रायेण परोक्षं बौद्धिकं तत्

(62) बाधकं तदप्यमर्यादम् **4**

13 सगुणमपि सदोषममर्यादं चेत्

14 तत्त्वनिष्ठया व्यक्तिनिष्ठा सुरक्षिता

15 एतदर्थं शरणत्रयी कल्पिता

16 अत्याचारः परिवर्जनीयः

(63) बोध्यं रामानुजयोर् दृष्टान्तेन **7**

17 अन्योन्यशोभा

18 लक्ष्मण-भरतयोः

19 सख्युः सखा लक्ष्मणः

20 ध्वजायै दंडवत्

21 रामकार्यदर्शी भरतः

22 महातपस्वी

23 पादुकाश्रयमपेक्षते

(64) कृष्णसखयोश्च **4**

24 भक्तिरनासक्तिरेकैव

25 उद्धवार्जुनयो:

26 उद्धवो निर्गुणान्तः

27 अर्जुनः सगुणान्त:

(65) आत्मप्रतीतेरभेदः **1**

28 स्वानुभवकथनम्

(66) अमृतं पर्युपास्यम् **4**

29 स्यात् शिलामयार्चनं निर्गुणम्

30 स्यात् शिलामयार्चनं सगुणम्

31 उभे परस्परपूरके

32 लक्षणान्यभ्यस्यनीयानि

अध्याय 13

(67) शरीरात् प्रवृहेत् **4**

1 व्यासः समासो गीतायाम्

2 आचारशुद्धिर् विचारेण

3 फलवासना प्रेरकशक्तिर् मन्यते

4 तन्निरसनाय देहात्मपृथक्करणम्

(68) अन्यथा संस्कारासंभवः **5**

5 देहपूजा व्यर्था

6 देहनिंदापि व्यर्थैव

7 आत्माधारं शिक्षणशास्त्रम्

8 'अहं' सर्वथा निर्मल:

9 साक्षित्वेन संस्कार: संभवेत्

(69) क्लिष्ट-जीवितं च **4**

10 रक्ष्याणां भक्षणम्

11 भैषज्यातिरेकः

12 पिंडपोषणवृत्तिः

13 कृत्रिम-वेषभूषा

(70) महावाक्यमनुचिंतयेत् **3**

14 तत्त्वमसि-सूत्रम्

15 तन्निदिध्यासेन देहस्वाम्यम्

16 वस्त्रवत् धारयेत् जह्याच्च

(71) ततः शासनमुक्तिः **3**

17 'अश्नामि'-राक्षसः

18 हुतात्म-परंपरा

19 अजरामरः सुक्रातः

(72) आत्मशक्तेर् भानात् **2**

20 किमाश्वस्तो निद्राति?

21 विश्वशक्तिमाश्वस्तः

(73) आविः संनिहिततरम् **8**

22 द्रष्टृ-भूमिका प्रथमा

23 नैतिकी द्वितीया

24 नैतिक्यामनुमन्ता

25 श्रांता तृतीया

26 श्रांतस्य सख्याय भर्ता

27 भोक्तृ-भूमिका चतुर्थी

28 माहेश्वरी पंचमी

29 एवं परमात्मशक्तेराविष्कारः

(74) विंशत्या **3**

30 ख्रिस्तबलिदानमंत्र मननीयम्

31 सद्गुण-संवर्धनमेव ज्ञानम्

32 ज्ञानदेवेनाविष्कृतम्

अध्याय 14

(75) प्रकृतिः शोध्या **3**

1 शृंखला भेदनीया

2 विवेकवैराग्याभ्याम्

3 त्रिधातुका शोधनीया

(76) श्रम-संजात-वारिणा **5**

4 शरीरस्थो महारिपुः

5 पादं प्रविष्टः कलिः

6 समाजश् छिन्नभिन्नः

7 रूंडमुंड-वर्गभेदेन

8 श्रमनिष्ठा रामबाणः

(77) यन्ति प्रमादमतंद्राः **4**

9 गाढनिद्रा सुदुर्लभा

10 चक्री न सुखं शेते

11 विस्मृतिर्

12 प्रमादो मृत्युः

(78) वेगस्य शमनं स्वधर्मेण **4**

13 तमःप्रतीपं रजः

14 रजोलक्षणं वेगः

15 सततं भ्रामयति

16 रजोमारणं स्वधर्मेण

(79) स्वाभाविकत्वात् **4**

17 स्वधर्मः स्वभावनियतः

18 जन्म-जातः

19 प्रवाह-प्राप्तः

20 चांचल्य-मोचनः

(80) सत्त्वस्य सत्त्वेन **6**

21 सत्त्वं जयेत् सावधानः

22 सातत्येन

23 निरहंकारेण 24 कारुण्यासक्ति-वर्जनेन

25 कीर्ति-परिहारेण 26 अंतिमफलत्यागेन

(81) भक्त्यैव तु निस्तारः 2

27 अखंड-जागरस् तारणः 28 हरिकृपा च

अध्याय 15

(82) पुरुषकारात् भक्तिरभिन्ना 5

1 पुर्णयोगः 2 वृक्षरूपकम्

3 त्रैगुण्य-रमायणम् 4 निस्त्रैगुण्ये कमलवत्

5 यत्नवीरं कामयन्ते वेदा:

(83) तया स सुकरः 2

6 ज्ञानकर्मप्रम्णस् त्रिपदी 7 प्रेम्णा तपः शीतलम्

(84) त्रैतं सेवार्थम् 5

8 सेव्य-सेवक-साधन-त्रिपुटी 9 सेव्य-सेवकौ सनातनौ

10 साधनरूपा सृष्टिर् नित्यनूतनी 11 चंद्रकला सुमनमाला

12 नवनव-प्रसवा

(85) सैव भक्तिरनहंकृता चेत् 2

13 दैनंदिनी सेवा 14 निरहंकृता भक्तिरूपा

(86) ज्ञानं समरसम् 6

15 जीवनं ज्ञानेन संस्कार्यम् 16 उपकरण-पूजा

17 जीव-शिव-सृष्टेरैक्यम्
18 देवालय-दृष्टान्तः
19 खंडरशर्करासेवनवत्
20 समरसं रमणीयम्

(87) अन्न वेदार्थः परिसमाप्तः 4

21 वेदः सृष्टौ प्रकाशते
22 श्रमिकस्य कराग्रे च
23 अहमेव वेद-फलितम्
24 वेदविदव्यंगः

अध्याय 16

(88) एषा दिवो दुहिता 3

1 पुरुषोत्तमयोगोऽन्तिमः
2 पंचवादातीतो निर्विवादः
3 पूर्व-प्रभा दैवी संपत्

(89) सदसती पस्पृधाते 4

4 अंतःसंग्रामो मूलम्
5 बहिर् दृश्यते प्रतिबिंबम्
6 अभयादि-नम्रतान्ता दैवी
7 दंभाद्यज्ञानान्ताऽऽसुरी

(90) चतुष्पर्वाण्युत्तरोत्तरम् 5

8 अहिंसाविकासपर्वाणि
9 परशुरामस्य प्रथमम्
10 विश्वामित्रादीनां द्वितीयम्
11 महतां सतां तृतीयम्
12 अस्माकं चतुर्थम्

(91) अपूर्वं मानवस्य 2

13 पश्वादीनामभयदानम्
14 भारतीयप्रयोगविशेषः

(92) स्वाम्यादि परिहरेत् 6

15 त्रिविध-महत्त्वाकांक्षा 16 संस्कृतिर् धार्मिकी मे

17 संस्कृतिर् वांशिकी मे 18 धनं मे

19 प्रभुत्वं मे 20 'मे'-मुक्तं भावि-युगम्

(93) शास्त्रीय-संयमेन 4

21 विस्तीर्णो नरकपंथा 22 वंशवृद्धि-चिंतां मा कुरु

23 संयम-चिंतां कुरु 24 तीरानंदो भव

अध्याय 17

(94) संयतेन स्वैरम् 3

1 कार्यक्रमयोगः 2 तेनैव निश्चिंतता

3 संस्थात्रयाधारितं जन्म

(95) तदर्थं त्रिविधिः 6

4 क्षतिपूर्णो यज्ञः 5 ऋणमोचनं दानम्

6 दोषशोधनं तपः 7 एतैः संस्थात्रये साम्यं स्थापयेत्

8 आहारसेवनं तदर्थीयम् 9 मूलभूता श्रद्धा

(96) सात्त्विकं संपादयेत् 5

10 सात्त्विकमेव समर्पणीयम् 11 सेवा-साधना-सामरस्यम्

12 कामनामुक्तं साफल्ययुक्तं च 13 सौंदर्यं प्रतिबिंबम्

14 मंत्रेण पुष्टिः

(97) आहारशुद्धौ 4

15 मिताहारस्य महत्त्वम् 16 निरामिषं पूर्वज-पुण्यम्

17 मत्स्याशनत्यागः प्रयोगविषयः 18 पुर्वज-पुण्यं न हापयेत्

(98) सर्वेषामविरोधेन **4**

19 अविरोधि-जीवनयोजना 20 द्वौ चैतन्यवादौ

21 विरोधः काल्पनिकः 22 देहांगवदद्वैतम्

(99) नाम्ना सादृण्यम् **4**

23 नामामृतं सेवनीयम् 24 गुण-भाव्यानि नामानि

25 ॐतत्सदित्यस्य विवरणम् 26 ब्रह्मार्पणमस्तु

(100) तद्धि पापापहारि **2**

27 पापापहारि हरिनाम 28 सदसतोः समानाधिकारः

अध्याय 18

(101) अथातस्त्यगमीमांसा **2**

1 अंतिमं प्रवचनम् 2 अर्जुनस्यांमिः प्रश्नः

(102) निकषः सार्वभौमः **4**

3 फलत्यागो निकषः 4 काम्य-निषिद्धानि वर्जनीयानि

5 कर्ममात्रं सदोषम् 6 कर्मसंकोचो निरर्थकः

(103) क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम् **6**

7 सेंद्राय तक्षकायेति न कुर्यात् 8 गोरक्ष-दृष्टान्तेन बोद्धव्यम्

9 देहदहनाय प्रवृत्तो मूर्खः 10 अमंगलमिति न वक्तव्यम्

11 क्रियाकर्मणोर् भेद: 12 दांभिक-पोपवत् साधकस्य

(104) अनेन स्वधर्मो विवृतः **4**

13 ओघप्राप्तं सदोषमपि न त्यजेत् 14 अप्राप्तं गुणवदपि न ग्राह्यम्

15 प्रतिव्यक्ति भिन्नं स्वत्वम् 16 स्वधर्म स्थिर: परिवर्तनीयश्च

(105) अष्टकं भावयेत् **2**

17 त्यागाष्टकम् 18 प्रकृतिः प्रवाहिनी

(106) काष्ठैव निष्ठा **4**

19 फलत्यागश्चिंतामणि: 20 मोक्षस्य नाकांक्षा

21 भक्ति-साधना पर्याप्ता 22 मार्गे नैव विश्रम:

(107) तुरीयं त्रिकोणम् **9**

23 अंतिमावस्था परमोदात्ता रमणीया 24 अतिनैतिकी

25 अवर्णनीया 26 भावावस्था वामदेववत्

27 'च मे च मे' 28 नरसिंह-कथनम्

29 क्रियावस्था सात्त्विकी 30 ज्ञानावस्था त्रिभुवन-दहनी

31 शिवोऽहं नेदं शव:

(108) अहंमुक्तिः शब्दात् अहंमुक्तिः शब्दात् **1**

32 त्वमेव त्वमेव त्वमेव

* * * * *